श्रीमद्भगवद्गीता भाषा



श्रीमद्भगवद्गीता भाषा



गीता प्रेस, गोरखपुर

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९८१ से २०४१ तक	१३,२५,०००
सं० २०४५ पैंतालीसवाँ संस्करण	५०,०००
सं० २०४५ छियालीसवाँ संस्करण	२०,०००
	कुल=१३,९५,०००

मूल्य—तीन रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

॥ गीता-माहात्म्य ॥

जो मनुष्य शुद्धचित्त होकर प्रेमपूर्वक इस पवित्र गीताशास्त्रका पाठ करता है, वह भय और शोक आदिसे रहित होकर विष्णुधामको प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

जो मनुष्य सदा गीताका पाठ करनेवाला है तथा प्राणायाममें तत्पर रहता है, उसके इस जन्ममें और पूर्वजन्ममें किये हुए समस्त पाप निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

जलमें प्रतिदिन किया हुआ स्नान मनुष्योंके केवल शारीरिक मलका नाश करता है, परन्तु गीताज्ञानरूप जलमें एक बार भी किया हुआ स्नान संसार-मलको नष्ट करनेवाला है ॥ ३ ॥

जो साक्षात् कमलनाभ भगवान् विष्णुके मुखकमलसे प्रकट हुई है, उस गीताका ही भलीभाँति गान (अर्थसहित स्वाध्याय) करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ४ ॥

जो महाभारतका अमृतोपम सार है तथा जो भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे प्रकट हुआ है, उस गीतारूप गङ्गाजलको पी लेनेपर पुनः इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण उपनिषदें गौके समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दुहनेवाले हैं, अर्जुन बछड़ा है तथा महान् गीतामृत ही उस गौका दुग्ध है और शुद्ध बुद्धिवाला श्रेष्ठ मनुष्य ही उसका भोक्ता है ॥ ६ ॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताशास्त्र ही एकमात्र उत्तम शास्त्र है, भगवान् देवकीनन्दन ही एकमात्र महान् देवता हैं, उनके नाम ही एकमात्र मन्त्र हैं और उन भगवान्‌की सेवा ही एकमात्र कर्तव्य कर्म है ॥ ७ ॥

—०—

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीगीताजीकी महिमा

वास्तवमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य वाणीद्वारा वर्णन करनेके लिये किसीकी भी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि यह एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेदोंका सार-सार संग्रह किया गया है। इसकी संस्कृत इतनी सुन्दर और सरल है कि थोड़ा अभ्यास करनेसे मनुष्य उसको सहज ही समझ सकता है, परन्तु इसका आशय इतना गंभीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता। प्रतिदिन नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं, इससे यह सदैव नवीन बना रहता है। एवं एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा-भक्तिसहित विचार करनेसे इसके पद-पदमें परम रहस्य भरा हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव और मर्मका वर्णन जिस प्रकार इस गीताशास्त्रमें किया गया है, वैसा अन्य ग्रन्थोंमें मिलना कठिन है; क्योंकि प्रायः ग्रन्थोंमें कुछ-न-कुछ सांसारिक विषय मिला रहता है। भगवान्‌ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' रूप एक ऐसा अनुपमेय शास्त्र कहा है कि जिसमें एक भी शब्द सदुपदेशसे खाली नहीं है। श्रीवेदव्यासजीने महाभारतमें गीताजीका वर्णन करनेके उपरान्त कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

गीता सुगीता करनेयोग्य है अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है, जो कि स्वयं पद्मनाभ भगवान् श्रीविष्णुके मुखारविन्दसे निकली हुई है, (फिर) अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है? स्वयं श्रीभगवान्‌ने भी इसका माहात्म्य अन्तमें वर्णन किया है (अध्याय १८ श्लोक ६८ से ७१ तक)।

इस गीताशास्त्रमें मनुष्यमात्रका अधिकार है, चाहे वह किसी भी वर्ण-आश्रममें स्थित हो, परन्तु भगवान्‌में श्रद्धालु और भक्तियुक्त अवश्य होना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌ने अपने भक्तोंमें ही इसका प्रचार करनेके लिये आज्ञा दी है तथा यह भी कहा है कि स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि भी मेरे परायण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं (अ० ९ श्लोक ३२); अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा मेरी पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होते हैं (अ० १८ श्लोक ४६)—इन सबपर विचार करनेसे यही ज्ञात होता है कि परमात्माकी प्राप्तिमें सभीका अधिकार है।

परन्तु उक्त विषयके मर्मको न समझनेके कारण बहुतसे मनुष्य, जिन्होंने श्रीगीताजीका केवल नाममात्र ही सुना है, कह दिया करते हैं कि गीता तो केवल संन्यासियोंके लिये ही है, वे अपने बालकोंको भी इसी भयसे श्रीगीताजीका अभ्यास नहीं कराते कि गीताके ज्ञानसे कदाचित् लड़का घर छोड़कर संन्यासी न हो जाय; किन्तु उनको विचार करना चाहिये कि मोहके कारण क्षात्रधर्मसे विमुख होकर भिक्षाके अन्नसे निर्वाह करनेके लिये तैयार हुए अर्जुनने जिस परम रहस्यमय गीताके उपदेशसे आजीवन गृहस्थमें रहकर अपने कर्तव्यका पालन किया, उस गीताशास्त्रका यह उलटा परिणाम किस प्रकार हो सकता है?

अतएव कल्याणकी इच्छावाले मनुष्योंको उचित है कि मोहका त्यागकर अतिशय श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अपने बालकोंको अर्थ और भावके सहित श्रीगीताजीका अध्ययन करायें एवं स्वयं भी इसका पठन और मनन करते हुए भगवान्‌के आज्ञानुसार साधन करनेमें तत्पर हो जायँ, क्योंकि अति दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी दुःखमूलक क्षणभङ्गुर भोगोंके भोगनेमें नष्ट करना उचित नहीं है।

—०—

श्रीगीताजीके प्रधान विषय

श्रीगीताजीमें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये मुख्य दो मार्ग बतलाये हैं—एक सांख्ययोग, दूसरा कर्मयोग । उनमें—

(१) सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जलकी भाँति अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामय होनेसे मायाके कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होना (अ० ५ श्लोक ८,९) तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवके सिवाय अन्य किसीके भी होनेपनेका भाव न रहना, यह तो सांख्ययोगका साधन है तथा—

(२) सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग कर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवान्‌के ही लिये सब कर्मोंका आचरण करना, (अ० २ श्लोक ४८, अ० ५ श्लोक १०) तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर नाम, गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना (अ० ६ श्लोक ४७), यह कर्मयोगका साधन है ।

उक्त दोनों साधनोंका परिणाम एक होनेके कारण वे वास्तवमें अभिन्न माने गये हैं (अ० ५ श्लोक ४, ५) । परन्तु साधनकालमें

अधिकारी-भेदसे दोनोंका भेद होनेके कारण दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं (अ॰ ३ श्लोक ३) । इसलिये एक पुरुष दोनों मार्गोंद्वारा एक कालमें नहीं चल सकता, जैसे श्रीगङ्गाजीपर जानेके लिये दो मार्ग होते हुए भी एक मनुष्य दोनों मार्गोंद्वारा एक कालमें नहीं जा सकता । उक्त साधनोंमें कर्मयोगका साधन संन्यास-आश्रममें नहीं बन सकता; क्योंकि संन्यास-आश्रममें कर्मोंका स्वरूपसे भी त्याग कहा गया है और सांख्ययोगका साधन सभी आश्रमोंमें बन सकता है ।

यदि कहो कि सांख्ययोगको भगवान्‌ने संन्यासके नामसे कहा है, इसलिये उसका संन्यास-आश्रममें ही अधिकार है, गृहस्थमें नहीं, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि दूसरे अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक जो सांख्यनिष्ठाका उपदेश किया गया है, उसके अनुसार भी भगवान्‌ने जगह-जगह अर्जुनको युद्ध करनेकी योग्यता दिखायी है । यदि गृहस्थमें सांख्ययोगका अधिकार ही नहीं होता तो भगवान्‌का इस प्रकार कहना कैसे बन सकता ? हाँ, इतनी विशेषता अवश्य है कि सांख्यमार्गका अधिकारी देहाभिमानसे रहित होना चाहिये; क्योंकि जबतक शरीरमें अहंभाव रहता है, तबतक सांख्ययोगका साधन भली प्रकार समझमें नहीं आता । इसीसे भगवान्‌ने सांख्ययोगको कठिन बतलाया है (अ॰ ५ श्लोक ६) तथा (कर्मयोग) साधनमें सुगम होनेके कारण अर्जुनके प्रति जगह-जगह कहा है कि तू निरन्तर मेरा चिन्तन करता हुआ कर्मयोगका आचरण कर ।

—०—

अथ ध्यानम्

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥

अर्थ—**जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म-मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं, ऐसे लक्ष्मीपति, कमलनेत्र भगवान् श्रीविष्णुको मैं (सिरसे) प्रणाम करता हूँ ।**

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

अर्थ—**ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्‌गण दिव्य स्तोत्रोंद्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, सामवेदके गानेवाले अङ्ग, पद, क्रम और उपनिषदोंके सहित वेदोंद्वारा जिनका गान करते हैं, योगीजन ध्यानमें स्थित तद्‌गत हुए मनसे जिनका दर्शन करते हैं, देवता और असुरगण (कोई भी) जिनके अन्तको नहीं जानते उन (परमपुरुष नारायण) देवके लिये मेरा नमस्कार है ।**

—oo—

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीता भाषा

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र बोले—हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें एकत्रित, युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय बोले—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा ॥ २ ॥

हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥ इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्धमें भीम और अर्जुनके समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥ ४-५-६ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! अपने पक्षमें भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये । आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ ॥ ७ ॥

आप—द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ॥ ८ ॥ और भी मेरे लिये जीवनकी आशा त्याग देनेवाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित और सब-के-सब युद्धमें चतुर हैं ॥ ९ ॥ भीष्मपितामहद्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है ॥ १० ॥ इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आपलोग सभी निःसन्देह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें ॥ ११ ॥ कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वरसे सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥ इसके पश्चात् शङ्ख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥ १३ ॥ इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥ श्रीकृष्ण महाराजने पाञ्चजन्यनामक, अर्जुनने देवदत्तनामक और भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्र-नामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजयनामक और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पकनामक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥ श्रेष्ठ

धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने, हे राजन्! सब ओरसे अलग-अलग शङ्ख बजाये॥ १७-१८॥ और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाते हुए धार्तराष्ट्रोंके अर्थात् आपके पक्षवालोंके हृदय विदीर्ण कर दिये॥१९॥ हे राजन्! इसके बाद कपिध्वज अर्जुनने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर, उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराजसे यह वचन कहा—हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये॥ २०-२१॥ और जबतक कि मैं युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओंको भलीप्रकार देख लूँ कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है, तबतक उसे खड़ा रखिये॥ २२॥ दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें हित चाहनेवाले जो-जो ये राजालोग इस सेनामें आये हैं, इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा॥ २३॥

संजय बोले—हे धृतराष्ट्र! अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा कि हे पार्थ! युद्धके लिये जुटे हुए

इन कौरवोंको देख ॥ २४-२५ ॥ इसके बाद पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित ताऊ-चाचोंको, दादों-परदादोंको, गुरुओंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा ॥ २६ और २७वेंका पूर्वार्ध ॥ उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओंको देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन बोले ॥ २७ वेंका उत्तरार्ध और २८ वेंका पूर्वार्ध ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इस स्वजनसमुदायको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीरमें कम्प एवं रोमाञ्च हो रहा है ॥ २८ वेंका उत्तरार्ध और २९ ॥ हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है; इसलिये मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥ हे केशव ! मैं लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ तथा युद्धमें स्वजन-समुदायको मारकर कल्याण भी नहीं देखता ॥ ३१ ॥ हे कृष्ण ! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखोंको ही । हे गोविन्द ! हमें ऐसे राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगोंसे और जीवनसे भी क्या लाभ है ? ॥ ३२ ॥ हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवनकी आशाको त्यागकर युद्धमें खड़े

हैं॥ ३३ ॥ गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं॥ ३४ ॥ हे मधुसूदन ! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ?॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा॥ ३६ ॥ अतएव हे माधव ! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि अपने ही कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ?॥३७॥ यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको और मित्रोंसे विरोध करनेमें पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन ! कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ?॥ ३८-३९ ॥ कुलके नाशसे सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप भी बहुत फैल जाता है॥ ४० ॥ हे कृष्ण ! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसङ्कर उत्पन्न होता है॥ ४१ ॥ वर्णसङ्कर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है । लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग

भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥ इन वर्णसङ्करकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ हे जनार्दन ! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं ॥ ४४ ॥

हा ! शोक ! हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं ॥ ४५ ॥ यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करनेवालेको शस्त्र हाथमें लिये हुए धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

संजय बोले—रणभूमिमें शोकसे उद्विग्नमनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें "अर्जुनविषादयोग" नामक पहला अध्याय ॥१॥

दूसरा अध्याय

संजय बोले—उस प्रकार करुणासे व्याप्त और आँसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है ॥ २ ॥ इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा ॥ ३ ॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! मैं रणभूमिमें किस प्रकार बाणोंसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध लड़ूँगा? क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं ॥ ४ ॥ इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा ॥ ५ ॥ हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना और न करना—इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे मुकाबलेमें खड़े हैं ॥ ६ ॥ इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

क्योंकि भूमिमें निष्कण्टक, धन-धान्यसम्पन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके ॥८॥

संजय बोले—हे राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये ॥ ९ ॥ हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओंके बीचमें शोक करते हुए उस अर्जुनको हँसते हुए-से यह वचन बोले ॥ १० ॥

श्रीभगवान् बोले— हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते ॥ ११ ॥ न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था, या तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥ १२ ॥ जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता ॥ १३ ॥ हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं, इसलिये हे भारत! उनको तू सहन

कर ॥ १४ ॥ क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है ॥ १५ ॥ असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ॥ १६ ॥ नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है । इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥ इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ॥ १८ ॥

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है ॥ १९ ॥ यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ॥ २० ॥ हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ? ॥२१॥ जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता

है ॥ २२ ॥ इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता ॥ २३ ॥ क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसन्देह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है ॥ २४ ॥ यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है । इससे हे अर्जुन ! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥२५॥

किन्तु यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरनेवाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो ! तू इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २६ ॥ क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है । इससे भी इस बिना उपायवाले विषयमें तू शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २७ ॥ हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है ? ॥ २८ ॥ कोई एक महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्वका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता ॥ २९ ॥ हे अर्जुन ! यह

आत्मा सबके शरीरोंमें सदा ही अवध्य* है । इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेयोग्य नहीं है अर्थात् तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है ॥ ३१ ॥ हे पार्थ ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं ॥ ३२ ॥ किन्तु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

तथा सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्तिका भी कथन करेंगे और माननीय पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है ॥ ३४ ॥ और जिनकी दृष्टिमें तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुताको प्राप्त होगा, वे महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥ तेरे वैरीलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे; उससे अधिक दुःख और क्या होगा ? ॥ ३६ ॥ या तो तू युद्धमें मारा जाकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा । इस कारण हे अर्जुन ! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो

*जिसका वध नहीं किया जा सके ।

जा ॥ ३७ ॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके* विषयमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके† विषयमें सुन—जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धनको भली भाँति त्याग देगा अर्थात् सर्वथा नष्ट कर डालेगा ॥ ३९ ॥ इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है ॥ ४० ॥ हे अर्जुन ! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किन्तु अस्थिर विचारवाले विवेकहीन सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं ॥ ४१॥ हे अर्जुन ! जो भोगोंमें तन्मय हो रहे हैं, जो कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, जिनकी बुद्धिमें स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्गसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकीजन इस प्रकारकी जिस पुष्पित अर्थात् दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहा करते हैं जो कि जन्मरूप कर्मफल देनेवाली एवं भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके

* -† अध्याय ३ श्लोक ३ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये ।

लिये नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है, उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती ॥ ४२,४३,४४ ॥

हे अर्जुन ! वेद उपर्युक्त प्रकारसे तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं; इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्यवस्तु परमात्मामें स्थित, योग* क्षेम† को न चाहनेवाला और स्वाधीन अन्तःकरणवाला हो ॥ ४५ ॥ सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मको तत्त्वसे जाननेवाले ब्राह्मणका समस्त वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रह जाता है ॥ ४६ ॥ तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं । इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो ॥ ४७ ॥ हे धनंजय ! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व‡ ही योग कहलाता है ॥ ४८ ॥ इस समत्वरूप

---

* अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है ।

† प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है ।

‡ जो कुछ भी कर्म किया जाय, उसके पूर्ण होने और न होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम 'समत्व' है ।

बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणीका है । इसलिये हे धनंजय ! तू समबुद्धिमें ही रक्षाका उपाय ढूँढ़ अर्थात् बुद्धियोगका ही आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं ॥ ४९ ॥ समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है । इससे तू समत्वरूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है ॥ ५० ॥ क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परमपदको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५१ ॥ जिस कालमें तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले इस लोक और परलोकसम्बन्धी सभी भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा ॥ ५२ ॥ भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा अर्थात् तेरा परमात्मासे नित्य संयोग हो जायगा ॥ ५३ ॥

अर्जुन बोले—हे केशव ! समाधिमें स्थित परमात्माको प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुषका क्या लक्षण है ? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है ? ॥ ५४ ॥

श्रीभगवान् बोले — हे अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष

मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ५५ ॥ दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥ जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥ और कछुवा सब ओरसे अपने अङ्गोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये) ॥ ५८ ॥ इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती । इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है ॥ ५९ ॥ हे अर्जुन ! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं ॥ ६० ॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ ६१ ॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है ॥ ६३ ॥ परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥ अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥ न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है ? ॥ ६६ ॥ क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है ॥ ६७ ॥ इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ

इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है ॥ ६८ ॥ सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है ॥ ६९ ॥ जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परमशान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं ॥ ७० ॥ जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है ॥ ७१ ॥ हे अर्जुन ! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें "सांख्ययोग" नामक दूसरा अध्याय ॥ २ ॥

—०—

तीसरा अध्याय

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! यदि आपको कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयङ्कर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? ॥ १ ॥ आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं । इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा * मेरे द्वारा पहले कही गयी है । उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे † और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे ‡ होती है ॥ ३ ॥ मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको+ यानी योगनिष्ठाको प्राप्त होता है और न कर्मोंके केवल त्यागमात्रसे सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठाको ही प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा

---

* साधनकी परिपक्व अवस्था अर्थात् पराकाष्ठाका नाम 'निष्ठा' है ।

† मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरतते हैं, ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहनेका नाम 'ज्ञानयोग' है, इसीको 'संन्यास', 'सांख्ययोग' आदि नामोंसे कहा गया है ।

‡ फल और आसक्तिको त्यागकर, भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व-बुद्धिसे कर्म करनेका नाम 'निष्काम कर्मयोग' है, इसीको 'समत्वयोग', 'बुद्धियोग', 'कर्मयोग', 'तदर्थकर्म', 'मदर्थकर्म', 'मत्कर्म' आदि नामोंसे कहा गया है ।

\+ जिस अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं कर सकते, उस अवस्थाका नाम 'निष्कर्मता' है ।

मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है॥ ५॥ जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है॥ ६॥ किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है॥ ७॥ तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा॥ ८॥

यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे अर्जुन! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य कर्म कर॥ ९॥ प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो॥ १०॥ तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे॥ ११॥ यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार

उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है॥ १२ ॥ यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं॥ १३ ॥ सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है । कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान । इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है॥ १४-१५ ॥ हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है॥ १६ ॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है॥ १७ ॥ उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है । तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता॥ १८ ॥ इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह । क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ

मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥ जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेके ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है ॥ २० ॥ श्रेष्ठपुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसके अनुसार बरतने लग जाता है* ॥ २१ ॥ हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ ॥ २२ ॥ क्योंकि हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ॥ २३ ॥ इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ ॥ २४ ॥ हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे ॥ २५ ॥

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले

---

*यहाँ क्रियामें एक वचन है, परंतु 'लोक' शब्द समुदायवाचक होनेसे भाषामें बहुवचनकी क्रिया लिखी गयी है ।

अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे। किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे ॥ २६ ॥ वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण अहङ्कारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है ॥ २७ ॥ परन्तु हे महाबाहो ! गुणविभाग और कर्मविभाग* के तत्त्व† को जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता ॥ २८ ॥ प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे ॥ २९ ॥ मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर ॥ ३० ॥ जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥ ३१ ॥ परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस

---

* त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय—इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है।

† उपर्युक्त 'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग'से आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है।

मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ ॥ ३२ ॥ सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं । ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है । फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा ? ॥ ३३ ॥ इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं । मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं ॥ ३४ ॥ अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है । अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ॥ ३५ ॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ? ॥ ३६ ॥

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान ॥ ३७ ॥ जिस प्रकार धूएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है ॥ ३८ ॥ और हे अर्जुन ! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके

नित्य वैरीके द्वारा मनुष्यका ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं । यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है ॥ ४० ॥ इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल ॥ ४१ ॥ इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है ॥ ४२ ॥ इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो ! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें "कर्मयोग" नामक तीसरा अध्याय ॥ ३ ॥

—०—

चौथा अध्याय

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा ॥ १ ॥ हे परंतप अर्जुन ! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना; किन्तु

उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया॥ २॥ तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य विषय है॥ ३॥ अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अर्वाचीन—अभी हालका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्पके आदिमें हो चुका था; तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपहीने कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था ? ॥ ४॥

श्रीभगवान् बोले—हे परंतप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं । उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ॥ ५॥ मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ॥ ६॥ हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ॥ ७॥ साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ॥ ८॥ हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे* जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर

*सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्वभूतोंके परम

जन्मको प्राप्त नहीं होता, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

पहले भी, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्य प्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥ हे अर्जुन ! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं ॥११॥ इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है ॥ १२ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह, गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरेद्वारा रचा गया है । इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान ॥ १३ ॥ कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ॥ १४ ॥ पूर्वकालके मुमुक्षुओंने भी इस

गति तथा परम आश्रय हैं, वे केवल धर्मको स्थापन करने और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं, इसलिये परमेश्वरके समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है, ऐसा समझकर जो पुरुष परमेश्वरका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित संसारमें बर्तता है, वही उनको तत्त्वसे जानता है ।

प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं । इसलिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही कर ॥ १५ ॥ कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ?—इस प्रकार इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं । इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ १६ ॥ कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है ॥ १७ ॥ जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है ॥ १८ ॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ॥ १९ ॥ जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य तृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥ जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगोंकी सामग्रीका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापोंको नहीं प्राप्त होता ॥ २१ ॥ जो बिना इच्छाके अपने-आप

प्राप्त हुए पदार्थमें सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता॥ २२॥ जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसा केवल यज्ञसम्पादनके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं॥ २३॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है॥ २४॥ दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं* ॥ २५॥ अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि

* परब्रह्म परमात्मामें ज्ञानद्वारा एकीभावसे स्थित होना ही ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है।

समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं ॥ २६ ॥ दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयम-योगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं* ॥ २७ ॥ कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं ॥ २८ ॥ दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार† करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं । ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं ॥ २९-३० ॥ हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं और यज्ञ न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है? ॥ ३१ ॥ इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तारसे कहे गये

* सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवाय अन्य किसीका भी न चिन्तन करना ही उन सबका हवन करना है ।

† गीता अध्यांय ६ श्लोक १७ में देखना चाहिये ।

हैं । उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान, इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है, तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं ॥३३ ॥ उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥ जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें* और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा† ॥ ३५ ॥ यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है; तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा ॥ ३६ ॥ क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है ॥ ३७ ॥ इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है । उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण

* गीता अ० ६ श्लोक २९ में देखना चाहिये ।

† गीता अ० ६ श्लोक ३० में देखना चाहिये ।

हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है॥ ३८॥ जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है॥ ३९॥ विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है॥ ४०॥ हे धनंजय! जिसने कर्मयोगकी विधिसे समस्त कर्मोंका परमात्मामें अर्पण कर दिया है और जिसने विवेकद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले पुरुषको कर्म नहीं बाँधते॥ ४१॥ इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेकज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा॥ ४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें "ज्ञानकर्मसंन्यासयोग" नामक चौथा अध्याय॥ ४॥

—०—

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—कृष्ण! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको

कहिये ॥१॥ श्रीभगवान् बोले—कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परन्तु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है ॥२॥ हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥३॥ उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन; क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है ॥४॥ ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है; कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है । इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥५॥ परन्तु हे अर्जुन ! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥६॥

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ॥७॥ तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता

हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ॥८-९॥ जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता ॥१०॥ कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं ॥११॥ कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है ॥१२॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ॥१३॥ परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं; किन्तु स्वभाव ही बर्त रहे हैं ॥१४॥ सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है; किन्तु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं ॥१५॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है ॥१६॥ जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं ॥१७॥ वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी* ही होते हैं ॥१८॥ जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं ॥१९॥ जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ॥२०॥ बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है ॥२१॥ जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले

* इसका विस्तार गीता अ० ६ श्लोक ३२ की टिप्पणीमें देखना चाहिये ।

सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ॥२२॥ जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है ॥२३॥ जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्तब्रह्मको प्राप्त होता है ॥२४॥ जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥२५॥ काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है ॥२६॥ बाहरके विषय-भोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि* इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है,

*परमेश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला ।

वह सदा मुक्त ही है ॥ २७-२८ ॥ मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ॥२९॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ''कर्मसंन्यासयोग'' नामक पाँचवा अध्याय ॥ ५ ॥

—०—

छठा अध्याय

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है ॥१॥ हे अर्जुन! जिसको संन्यास* ऐसा कहते हैं, उसीको तू योग† जान; क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥२॥ योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ़ हो जानेपर उस योगारूढ़ पुरुषका जो सर्वसंकल्पोंका अभाव है, वही कल्याणमें हेतु कहा जाता है ॥३॥ जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष

* -† गीता अध्याय ३ श्लोक ३ की टिप्पणीमें इसका खुलासा अर्थ लिखा है ।

योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ४ ॥ अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है ॥५॥ जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है ॥६॥ सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित है अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं ॥७॥ जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है ॥८॥ सुहृद्*, मित्र, वैरी, उदासीन†, मध्यस्थ‡, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥९॥ मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी

* स्वार्थरहित सबका हित करनेवाला ।

† पक्षपातरहित ।

‡ दोनों ओरकी भलाई चाहनेवाला ।

अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे ॥१०॥

शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके— ॥११॥ उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ॥१२॥ काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ— ॥१३॥ ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे ॥१४॥ वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है ॥१५॥ हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खानेवालेका, न बिल्कुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥१६॥ दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥१७॥

अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है ॥१८॥ जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है ॥१९॥ योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही सन्तुष्ट रहता है ॥२०॥ इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है; उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं ॥२१॥ परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता ॥२२॥ जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है; उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है ॥२३॥ संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर— ॥२४॥ क्रम-क्रमसे

अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे ॥२५॥ यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे ॥२६॥ क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ॥२७॥ वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है ॥२८॥ सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है ॥२९॥ जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत* देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ॥३०॥ जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है,

* गीता अध्याय ९ श्लोक ६ में देखना चाहिये ।

वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है ॥३१॥ हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति *सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ॥३२॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन ! जो यह योग आपने समभावसे कहा है, मनके चञ्चल होनेसे मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देखता हूँ ॥३३॥ क्योंकि हे श्रीकृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन स्वभाववाला, बड़ा दृढ़ और बलवान् है । इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुको रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ ॥३४॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह अभ्यास† और वैराग्यसे वशमें होता है ॥३५॥ जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है ॥३६॥

अर्जुन बोले—हे श्रीकृष्ण ! जो योगमें श्रद्धा

---

* जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर और गुदादिके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिकोंका-सा बर्ताव करता हुआ भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होनेसे सुख और दुःखको समान ही देखता है वैसे ही सब भूतोंमें देखना 'अपनी भाँति सम देखना' है ।

† गीता अध्याय १२ श्लोक ९ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये ।

रखनेवाला है; किन्तु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित हो गया है, ऐसा साधक योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्साक्षात्कारको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है ॥३७॥ हे महाबाहो ! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता ? ॥ ३८ ॥ हे श्रीकृष्ण ! मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है ॥३९॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही । क्योंकि हे प्यारे !आत्मोद्धारके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ॥४०॥ योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है ॥४१॥ अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है । परन्तु इस प्रकारका जो यह जन्म है, सो संसारमें निःसन्देह अत्यन्त दुर्लभ है ॥४२॥ वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है

और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥ वह* श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निःसन्देह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है, तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकाम कर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है ॥ ४४ ॥ परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी तो पिछले अनेक जन्मोंके संस्कारबलसे इसी जन्ममें संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो, फिर तत्काल ही परमगतिको प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥ योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो ॥ ४६॥ सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ''आत्मसंयमयोग'' नामक छठा अध्याय ॥ ६ ॥

—०—

* यहाँ 'वह' शब्दसे श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष समझना चाहिये ।

सातवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा, उसको सुन ॥ १ ॥ मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता ॥ २ ॥ हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है ॥ ३ ॥ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है । यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड प्रकृति है और हे महाबाहो ! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान ॥ ४-५ ॥ हे अर्जुन ! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का मूल कारण हूँ ॥ ६ ॥ हे धनंजय ! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मनियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ ॥८॥ मैं पृथ्वीमें पवित्र* गन्ध और अग्निमें तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ ॥ ९ ॥ हे अर्जुन ! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जान। मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ ॥ १० ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ ॥ ११ ॥ और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं, उन सबको तू 'मुझसे ही होनेवाले हैं' ऐसा जान । परन्तु वास्तवमें† उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं ॥१२॥

गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सारा संसार—प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता ॥१३॥ क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष केवल

---

* शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसे इस प्रसङ्गमें इनके कारणरूप तन्मात्राओंका ग्रहण है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उनके साथ पवित्र शब्द जोड़ा गया है ।

† गीता अ० ९ श्लोक ४-५ में देखना चाहिये ।

मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं ॥१४॥ मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है ऐसे आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढ़लोग मुझको नहीं भजते ॥१५ ॥ हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी*, आर्त†, जिज्ञासु‡ और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं ॥१६॥ उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥१७॥ ये सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥१८॥ बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ॥१९॥

उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभावसे प्रेरित होकर उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते

---

* सांसारिक पदार्थोंके लिये भजनेवाला ।

† सङ्कट-निवारणके लिये भजनेवाला ।

‡ मेरेको यथार्थरूपसे जाननेकी इच्छासे भजनेवाला ।

हैं ॥ २० ॥ जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी देवताके प्रति स्थिर करता हूँ ॥२१॥ वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसन्देह प्राप्त करता है ॥ २२ ॥ परन्तु उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥२३॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको न जानते हुए मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ २४ ॥ अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है ॥२५॥ हे अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परन्तु मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता ॥२६॥ हे भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं ॥२७॥ परन्तु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको

सब प्रकारसे भजते हैं ॥२८॥ जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको, सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं ॥२९॥ जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबका आत्मरूप) मुझे अन्तकालमें भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं ॥३०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ''ज्ञानविज्ञानयोग'' नामक सातवाँ अध्याय ॥ ७ ॥

—०—

आठवाँ अध्याय

अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत नामसे क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं ॥१॥ हे मधुसूदन ! यहाँ अधियज्ञ कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? तथा युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं ॥२॥ श्रीभगवान्‌ने कहा —परम अक्षर 'ब्रह्म' है, अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म' नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नामसे कहा गया है ॥३॥ उत्पत्ति-विनाश धर्मवाले सब

पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष* अधिदैव है और हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इस शरीरमें मैं वासुदेव ही अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ हूँ ॥४॥ जो पुरुष अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥५॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहता है ॥६॥ इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ॥७॥

हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है ॥८॥ जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता†, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण

* जिसको शास्त्रोंमें 'सूत्रात्मा', 'हिरण्यगर्भ', 'प्रजापति', 'ब्रह्मा' इत्यादि नामोंसे कहा गया है।

† अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ कर्मके अनुसार शासन करनेवाला।

करनेवाले अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है ॥९॥ वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है ॥१०॥ वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारीलोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा ॥११॥ सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर तथा मनको हृद्देशमें स्थिर करके, फिर उस जीते हुए मनके द्वारा प्राणको मस्तकमें स्थापित करके, परमात्मा—सम्बन्धी योगधारणामें स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है ॥१२-१३॥ हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ॥१४॥ परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं

प्राप्त होते ॥ १५ ॥ हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं ॥१६॥

ब्रह्माका जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं ॥१७॥ सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरमें ही लीन हो जाते हैं ॥१८॥ हे पार्थ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लीन होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है ॥१९॥ उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ॥२०॥ जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षरनामक अव्यक्तभावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है ॥२१॥ हे पार्थ ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन

परमात्मासे यह समस्त जगत् परिपूर्ण है*, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य† भक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है ॥२२॥

हे अर्जुन ! जिस कालमें ‡ शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन तो वापस न लौटनेवाली गतिको और जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको ही प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको कहूँगा ॥२३॥ जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥२४॥ जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है, रात्रि अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर वापस आता है ॥२५॥ क्योंकि

---

*गीता अ० ९ श्लोक ४ में देखना चाहिये ।

†गीता अ० ११ श्लोक ५५ में इसका विस्तार देखना चाहिये ।

‡यहाँ काल शब्दसे मार्ग समझना चाहिये; क्योंकि आगेके श्लोकोंमें भगवान्‌ने इसका नाम 'सृति', 'गति' ऐसा कहा है ।

जगत्‌के ये दो प्रकारके—शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एकके द्वारा गया हुआ* —जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परम गतिको प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा गया हुआ† फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है॥२६॥ हे पार्थ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता। इस कारण हे अर्जुन! तू सब कालमें समबुद्धिरूप योगसे युक्त हो अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो॥२७॥ योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निःसन्देह उल्लङ्घन कर जाता है और सनातन परमपदको प्राप्त होता है॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें "अक्षरब्रह्मयोग" नामक आठवाँ अध्याय॥८॥

—०—

* अर्थात् इसी अध्यायके श्लोक २४ के अनुसार अर्चिमार्गसे गया हुआ योगी।

† अर्थात् इसी अध्यायके श्लोक २५ के अनुसार धूममार्गसे गया हुआ सकाम कर्मयोगी।

नवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले—तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा ॥१॥ यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है ॥२॥ हे परंतप ! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं ॥३॥ मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बरफके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, किन्तु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥४॥ वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किन्तु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है ॥ ५ ॥ जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान ॥ ६ ॥

हे अर्जुन ! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ ॥ ७ ॥ अपनी प्रकृतिको अङ्गीकार

करके स्वभावके बलसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ ॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश* स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते ॥ ९ ॥ हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति चराचरसहित सर्वजगत्‌को रचती है और इस हेतुसे ही यह संसारचक्र घूम रहा है ॥१०॥

मेरे परमभावको† न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं ॥११॥ वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिको‡ ही धारण किये रहते हैं ॥१२॥ परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके× आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य

---

* जिसके सम्पूर्ण कार्य कर्तृत्वभावके बिना अपने-आप सत्तामात्रसे ही होते हैं, उसका नाम "उदासीनके सदृश" है ।

† गीता अध्याय ७ श्लोक २४ में देखना चाहिये ।

‡ जिसको आसुरी सम्पदाके नामसे विस्तारपूर्वक भगवान्‌ने गीता अध्याय १६ श्लोक ४ तथा ७ से २१ तकमें कहा है ।

× इसका विस्तारपूर्वक वर्णन गीता अध्याय १६ श्लोक १ से ३ तकमें देखना चाहिये ।

मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं ॥१३॥ वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं ॥१४॥ दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्स्वरूप परमेश्वरकी पृथक् भावसे उपासना करते हैं ॥१५॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, ओषधि मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ ॥१६॥ इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला, पिता, माता, पितामह, जाननेयोग्य,* पवित्र ओङ्कार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ ॥१७॥ प्राप्त होनेयोग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान† और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ ॥१८॥ मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाका आकर्षण करता हूँ

* गीता अध्याय १३ श्लोक १२ से १७ तकमें देखना चाहिये ।

† प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूत सूक्ष्मरूपसे जिसमें लय होते हैं उसका नाम 'निधान' है ।

और उसे बरसाता हूँ । हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ ॥१९॥

तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकामकर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापरहित पुरुष* मुझको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं, वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं ॥२०॥ वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं ॥२१॥ जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम† मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ॥२२॥ हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है ॥२३॥ क्योंकि

* यहाँ स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धक देवऋणरूप पापसे पवित्र होना समझना चाहिये ।

† भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और भगवत्प्राप्तिके निमित्त किये हुए साधनकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है ।

सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परन्तु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ॥२४॥ देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता* ॥२५॥

जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ ॥२६॥ हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर ॥२७॥ इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ॥२८॥ मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ† ॥२९॥ यदि कोई अतिशय दुराचारी

---

* गीता अध्याय ८ श्लोक १६ में देखना चाहिये।

† जैसे सूक्ष्मरूपसे सब जगह व्यापक हुआ भी अग्नि साधनोंद्वारा प्रकट

भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है । अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ॥३०॥ वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ॥३१॥ हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ॥३२॥ फिर इसमें कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं । इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ॥३३॥ मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर । इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें "राजविद्याराजगुह्ययोग" नामक नवाँ अध्याय ॥ ९ ॥

—०—

करनेसे ही प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्तिसे भजनेवालेके ही अन्तःकरणमें प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है ।

दसवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो ! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचनको सुन, जिसे मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूँगा ॥१॥ मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं; क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ ॥२॥ जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित, अनादि* और लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥३॥ निश्चय करनेकी शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढ़ता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंका वशमें करना, मनका निग्रह तथा सुख-दुःख, उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय तथा अहिंसा, समता, सन्तोष, तप†, दान, कीर्ति और अपकीर्ति—ऐसे ये प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं ॥४-५॥ सात महर्षिजन, चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु—ये मुझमें भाववाले सब-के-सब मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है ॥६॥ जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको और योगशक्तिको तत्त्वसे जानता

* अनादि उसको कहते हैं कि जो आदिरहित हो एवं सबका कारण हो ।

† स्वधर्मके आचरणसे इन्द्रियादिको तपाकर शुद्ध करनेका नाम "तप" है ।

है *, वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥७॥ मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ॥८॥ निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले † भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ॥९॥ उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥१०॥ हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ ॥११॥

अर्जुन बोले—आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं,

* जो कुछ दृश्यमात्र संसार है, वह सब भगवान्‌की माया है और एक वासुदेव भगवान् ही सर्वत्र परिपूर्ण है, यह जानना ही तत्त्वसे जानना है ।

† मुझ वासुदेवके लिये ही जिन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया है, उनका नाम 'मद्गतप्राणाः' है ।

वैसे ही देवर्षि नारद, असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं ॥१२-१३॥ हे केशव ! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ । हे भगवन्! आपके लीलामय* स्वरूपको न तो दानव जानते हैं और न देवता ही ॥१४॥ हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतोंके ईश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगत्के स्वामी ! हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं ॥१५॥ इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं ॥१६॥ हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन् ! आप किन-किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हैं ? ॥१७॥ हे जनार्दन ! अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है ॥१८॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं जो मेरी दिव्य-विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये प्रधानतासे कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है ॥१९॥ हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि,

---

* गीता अध्याय ४ श्लोक ६ में इसका विस्तार देखना चाहिए।

मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ ॥२०॥ मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ तथा मैं उनचास वायुदेवताओंका तेज और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ ॥२१॥ मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूत-प्राणियोंकी चेतना अर्थात् जीवनशक्ति हूँ ॥२२॥ मैं एकादश रुद्रोंमें शङ्कर हूँ और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ । मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूँ और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूँ ॥२३॥ पुरोहितोंमें मुखिया बृहस्पति मुझको जान । हे पार्थ ! मैं सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें समुद्र हूँ ॥२४॥ मैं महर्षियोंमें भृगु और शब्दोंमें एक अक्षर अर्थात् ओङ्कार हूँ । सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूँ ॥२५॥ मैं सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष, देवर्षियोंमें नारद मुनि, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ ॥२६॥ घोड़ोंमें अमृतके साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी और मनुष्योंमें राजा मुझको जान ॥२७॥ मैं शस्त्रोंमें वज्र और गौओंमें कामधेनु हूँ । शास्त्रोक्त रीतिसे सन्तानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ, और सर्पोंमें सर्पराज वासुकि हूँ ॥२८॥ मैं नागोंमें* शेषनाग और जलचरोंका अधिपति वरुण देवता हूँ और पितरोंमें अर्यमा नामक पितर तथा शासन करनेवालोंमें यमराज

* नाग और सर्प यह दो प्रकारकी सर्पोंकी ही जाति हैं ।

मैं हूँ ॥२९॥ मैं दैत्योंमें प्रह्लाद और गणना करनेवालोंका समय* हूँ तथा पशुओंमें मृगराज सिंह और पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूँ ॥३०॥

मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें श्रीराम हूँ तथा मछलियोंमें मगर हूँ और नदियोंमें श्रीभागीरथी गङ्गाजी हूँ ॥३१॥ हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ । मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करनेवालोंका तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला वाद हूँ ॥३२॥ मैं अक्षरोंमें अकार हूँ और समासोंमें द्वन्द्वनामक समास हूँ, अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला विराट्स्वरूप, सबका धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ ॥३३॥ मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और उत्पन्न होनेवालोंका उत्पत्ति-हेतु हूँ तथा स्त्रियोंमें कीर्ति†, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ ॥३४॥ तथा गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें मैं बृहत्साम और छन्दोंमें गायत्री छन्द हूँ तथा महीनोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्त मैं हूँ ॥३५॥ मैं छल करनेवालोंमें जूआ और प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव हूँ । मैं जीतनेवालोंका विजय हूँ, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव हूँ ॥३६॥ वृष्णिवंशियोंमें‡ वासुदेव अर्थात् मैं स्वयं तेरा

* क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास आदिमें जो समय है, वह मैं हूँ ।

† कीर्ति आदि ये सात देवताओंकी स्त्रियाँ और स्त्री-वाचक नामवाले गुण भी प्रसिद्ध हैं, इसलिये दोनों प्रकारसे ही भगवान्‌की विभूतियाँ हैं ।

‡ यादवोंके ही अन्तर्गत एक वृष्णिवंश भी था ।

सखा, पाण्डवोंमें धनंजय अर्थात् तू, मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ ॥३७॥ मैं दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् दमन करनेकी शक्ति हूँ, जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति हूँ, गुप्त रखनेयोग्य भावोंका रक्षक मौन हूँ और ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ ॥३८॥ और हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो ॥३९॥ हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियोंका यह विस्तार तो तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है ॥४०॥ जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान ॥४१॥ अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है । मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ ॥४२॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें "विभूतियोग" नामक दसवाँ अध्याय ॥१०॥

—०—

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है ॥१॥ क्योंकि हे

कमलनेत्र ! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है ॥२॥ हे परमेश्वर ! आप अपनेको जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है; परन्तु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे युक्त ऐश्वर्य-रूपको मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ ॥३॥ हे प्रभो* ! यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है—ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर ! उस अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये ॥४॥

श्रीभगवान् बोले— हे पार्थ ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा नाना आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख ॥५॥ हे भरतवंशी अर्जुन ! तू मुझमें आदित्योंको अर्थात् अदितिके द्वादश पुत्रोंको, आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको और उनचास मरुद्गणोंको देख तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ॥६॥ हे अर्जुन† ! अब इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहते हो सो देख ॥७॥ परन्तु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसन्देह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ;

* उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामीरूपसे शासन करनेवाला होनेसे भगवान्का नाम 'प्रभु' है ।

† निद्राको जीतनेवाला होनेसे अर्जुनका नाम 'गुडाकेश' हुआ था ।

इससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख ॥८॥

संजय बोले—हे राजन्! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्‌ने इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्यस्वरूप दिखलाया ॥९॥ अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले, बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए, दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए और दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेप किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ॥१०-११॥आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो ॥१२॥ पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण जगत्‌को देवोंके देव श्रीकृष्ण भगवान्‌के उस शरीरमें एक जगह स्थित देखा ॥१३॥ उसके अनन्तर वे आश्चर्यसे चकित और पुलकितशरीर अर्जुन प्रकाशमय विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा-भक्ति-सहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले— ॥१४॥

अर्जुन बोले—हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको तथा अनेक भूतोंके समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको और सम्पूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूँ ॥१५॥ हे सम्पूर्ण विश्वके स्वामिन्! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सब

ओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ । हे विश्वरूप ! मैं आपके न अन्तको देखता हूँ, न मध्यको और न आदिको ही ॥१६॥ आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजके पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ ॥१७॥ आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत्के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं । ऐसा मेरा मत है ॥१८॥ आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त, अनन्त भुजावाले, चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस जगत्को संतप्त करते हुए देखता हूँ ॥१९॥ हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं तथा आपके इस अलौकिक और भयङ्कर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथाको प्राप्त हो रहे हैं ॥२०॥ वे ही देवताओंके समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं ॥२१॥ जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण और पितरोंका समुदाय तथा

गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धोंके समुदाय हैं—वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं ॥२२॥ हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ, जङ्घा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत-सी दाढ़ोंके कारण अत्यन्त विकराल महान् रूपको देखकर सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ ॥२३॥ क्योंकि हे विष्णो ! आकाशको स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ ॥२४॥

दाढ़ोंके कारण विकराल और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित आपके मुखोंको देखकर मैं दिशाओंको नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ । इसलिये हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हों ॥२५॥ वे सभी धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदायसहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं और भीष्मपितामह , द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब आपके दाढ़ोंके कारण विकराल भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें लगे हुए दीख रहे हैं ॥२६-२७॥ जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोकके वीर भी आपके

प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥२८॥ जैसे पतङ्ग मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अति वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं ॥२९॥ आप उन सम्पूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा ग्रास करते हुए सब ओरसे बार-बार चाट रहे हैं, हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत्को तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है ॥३०॥ मुझे बतलाइये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं ? हे देवोंमें श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार हो । आप प्रसन्न होइये । आदिपुरुष आपको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता ॥३१॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ । इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ । इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित योद्धा लोग हैं, वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेपर भी इन सबका नाश हो जायगा ॥३२॥ अतएव तू उठ ! यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग । ये सब शूरवीर पहलेसे ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं । हे सव्यसाचिन् !* तू तो केवल निमित्तमात्र बन

* बाँयें हाथसे भी बाण चलानेका अभ्यास होनेसे अर्जुनका नाम "सव्यसाची" हुआ था ।

जा ॥३३॥ द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार । भय मत कर । निःसन्देह तू युद्धमें वैरियोंको जीतेगा । इसलिये युद्ध कर ॥३४॥

संजय बोले—केशव भगवान्‌के इस वचनको सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपता हुआ नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्‌गद वाणीसे बोले— ॥३५॥

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामिन्! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित हो रहा है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षसलोग दिशाओंमें भाग रहे हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार कर रहे हैं ॥३६॥ हे महात्मन्! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार न करें; क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं ॥३७॥ आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्‌के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जाननेयोग्य और परम धाम हैं । हे अनन्तरूप! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है ॥३८॥ आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं । आपके लिये हजारों बार नमस्कार! नमस्कार हो!!

आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार ! नमस्कार !! ॥३९॥ हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार ! हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो । क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप समस्त संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं ॥४०॥

आपके इस प्रभावको न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं ऐसा मानकर प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी मैंने 'हे कृष्ण !', 'हे यादव !', हे सखे !' इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे-समझे हठात् कहा है और हे अच्युत ! आप जो मेरे द्वारा विनोदके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिमें अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं—वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ ॥४१-४२॥ आप इस चराचर जगत्के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं, हे अनुपम प्रभाववाले ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है ॥४३॥ अतएव हे प्रभो ! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ । हे देव ! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं—वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करनेयोग्य हैं ॥४४॥ मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ

और मेरा मन भयसे अति व्याकुल भी हो रहा है; इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज विष्णुरूपको ही मुझे दिखलाइये ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥४५॥ मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये ॥४६॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट् रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीने पहले नहीं देखा था ॥४७॥ हे अर्जुन ! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ ॥४८॥ मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढभाव भी नहीं होना चाहिये । तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूपको फिर देख ॥४९॥

संजय बोले—वासुदेव भगवान्ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुजरूपको दिखलाया और फिर महात्मा श्रीकृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुनको धीरज दिया ॥५०॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन ! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ ॥५१॥ श्रीभगवान् बोले—मेरा

जो चतुर्भुज रूप तुमने देखा है, यह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं । देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा करते रहते हैं ॥५२॥ जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे, और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ ॥५३॥ परन्तु हे परंतप अर्जुन ! अनन्यभक्तिके* द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ॥५४॥ हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्त्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है†, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है ॥५५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ''विश्वरूपदर्शनयोगनामक'' ग्यारहवाँ अध्याय ॥११॥

—०—

बारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप

---

* अनन्यभक्तिका भाव अगले श्लोकमें विस्तारपूर्वक कहा है ।

† सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जानेसे, उस पुरुषका अति अपराध करनेवालेमें भी वैरभाव नहीं होता है, फिर औरोंमें तो कहना ही क्या है ।

सगुणरूप परमेश्वरको और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं—उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?॥१॥

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए* जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं॥२॥ परन्तु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं॥३-४॥ उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है॥५॥ परन्तु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्यभक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं†॥६॥

---

* अर्थात् गीता अध्याय ११ श्लोक ५५में लिखे हुए प्रकारसे निरन्तर मेरेमें लगे हुए।

† इस श्लोकका विशेष भाव जाननेके लिये गीता अध्याय ११ श्लोक ५५ देखना चाहिये।

हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ॥७॥

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥८॥ यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप* योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर ॥९॥ यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण† हो जा । इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा ॥१०॥ यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मोंके फलका त्याग‡ कर ॥११॥ मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है; ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके

---

* भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वासके द्वारा जप और भगवत्प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका पठन-पाठन इत्यादिक चेष्टाएँ भगवत्प्राप्तिके लिये बारंबार करनेका नाम "अभ्यास" है ।

† स्वार्थको त्यागकर तथा परमेश्वरको ही परम आश्रय और परमगति समझकर, निष्काम प्रेमभावसे सती-शिरोमणि, पतिव्रता स्त्रीकी भाँति मन, वाणी और शरीरद्वारा परमेश्वरके लिये ही यज्ञ, दान और तपादि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंके करनेका नाम "भगवदर्थ कर्म करनेके परायण होना" है ।

‡ गीता अध्याय ९ श्लोक २७ में इसका विस्तार देखना चाहिये ।

स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग* श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है ॥१२॥

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेष-भावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है; तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥१३-१४॥ जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष†, भय और उद्वेगादिसे रहित है—वह भक्त मुझको प्रिय है ॥१५॥ जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध‡, चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है—वह सब आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥१६॥ जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना

---

* केवल भगवदर्थ कर्म करनेवाले पुरुषका भगवान्में प्रेम और श्रद्धा तथा भगवान्का चिन्तन भी बना रहता है, इसलिये ध्यानसे "कर्मफलका त्याग" श्रेष्ठ कहा है ।

† दूसरेकी उन्नतिको देखकर संताप होनेका नाम "अमर्ष" है ।

‡ गीता अध्याय १३ श्लोक ७ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये ।

करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है—वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है ॥१७॥ जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है ॥१८॥ जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है ॥१९॥ परन्तु जो श्रद्धायुक्त* पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ''भक्तियोग'' नामक बारहवाँ अध्याय ॥१२॥

—०—

तेरहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! यह शरीर 'क्षेत्र'† इस नामसे कहा जाता है; और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ'

---

* वेद, शास्त्र, महात्मा और गुरुजनोंके तथा परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षके सदृश विश्वासका नाम ''श्रद्धा'' है ।

† जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उनके अनुरूप फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इसमें बोये हुए कर्मोंके संस्काररूप बीजोंका फल समयपर प्रकट होता है, इसलिये इसका नाम ''क्षेत्र'' ऐसा कहा है ।

इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं ॥१॥ हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान* और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे जानना है†, वह ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है ॥२॥ वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है, और जिस कारणसे जो हुआ है; तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है— वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन ॥ ३ ॥ यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है ॥४॥ पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि और मूल प्रकृति भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— ॥ ५ ॥ तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना‡ और धृति+—इस प्रकार विकारों× के सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें कहा गया ॥ ६ ॥

---

* गीता अध्याय १५ श्लोक ७ और उसकी टिप्पणी देखनी चाहिये ।

† गीता अध्याय १३ श्लोक २३ और उसकी टिप्पणी देखनी चाहिये ।

‡ शरीर और अन्तःकरणकी एक प्रकारकी चेतन-शक्ति ।

+ गीता अध्याय १८ श्लोक ३४ से ३५ तक देखना चाहिये ।

× पाँचवें श्लोकमें कहा हुआ तो क्षेत्रका स्वरूप समझना चाहिये और इस श्लोकमें कहे हुए इच्छादि क्षेत्रके विकार समझने चाहिये ।

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि,* अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह ॥७॥ इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना ॥८॥ पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव; ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना ॥९॥ मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति† तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ॥१०॥ अध्यात्मज्ञानमें‡ नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना

---

* सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी तथा यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं तथा राग, द्वेष और कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि कही जाती है ।

† केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके, श्रद्धा और भावके सहित परमप्रेमसे भगवान्का निरन्तर चिन्तन करना 'अव्यभिचारिणी' भक्ति है ।

‡ जिस ज्ञानके द्वारा आत्मवस्तु और अनात्मवस्तु जानी जाय, उस ज्ञानका नाम 'अध्यात्मज्ञान' है ।

—यह सब ज्ञान* है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान† है—ऐसा कहा है ॥११॥

जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा । वह अनादिवाला परम ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही ॥१२॥ वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है‡ ॥१३॥ वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है तथा आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है ॥१४॥ वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है; और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय+ है तथा अति समीपमें× और

* इस अध्यायके श्लोक ७ से लेकर यहाँतक जो साधन कहे हैं, वे सब तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेसे "ज्ञान" नामसे कहे गये हैं ।

† ऊपर कहे हुए ज्ञानके साधनोंसे विपरीत जो मान, दम्भ, हिंसा आदि हैं, वे अज्ञानकी वृद्धिमें हेतु होनेसे "अज्ञान" नामसे कहे गये हैं ।

‡ आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारणरूप होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है, वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे सम्पूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त करके स्थित है ।

+ जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित हुआ जल सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है ।

× वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सबका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है ।

दूरमें* भी स्थित वही है ॥१५॥ वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है†; तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है ॥१६॥ वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति‡ एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है । वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है ॥१७॥ इस प्रकार क्षेत्र+ तथा ज्ञान× और जाननेयोग्य परमात्माका स्वरूप& संक्षेपसे कहा गया । मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥१८॥

प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान ॥१९॥ कार्य§ और करण卐को उत्पन्न

---

* श्रद्धारहित, अज्ञानी पुरुषोंके लिये न जाननेके कारण बहुत दूर है ।

† जैसे महाकाश विभागरहित स्थित हुआ भी घड़ोंमें पृथक्-पृथक्के सदृश प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा सब भूतोंमें एकरूपसे स्थित हुआ भी पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत होता है ।

‡ गीता अध्याय १५ श्लोक १२ में देखना चाहिये ।

+ श्लोक ५-६में विकारसहित क्षेत्रका स्वरूप कहा है ।

× श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान अर्थात् ज्ञानका साधन कहा है ।

& श्लोक १२ से १७ तक ज्ञेयका स्वरूप कहा है ।

§ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इनका नाम ''कार्य'' है ।

卐 बुद्धि, अहंकार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त,

करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है ॥२०॥ प्रकृतिमें* स्थित ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है† ॥२१॥ इस देहमें स्थित यह आत्मा वास्तवमें परमात्मा ही है । वही साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा—ऐसा कहा गया है ॥२२॥ इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है‡, वह सब प्रकारसे कर्तव्यकर्म करता हुआ भी फिर नहीं जन्मता ॥२३॥ उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म

पाद, उपस्थ और गुदा—इन १३का नाम "करण" है ।

* प्रकृति शब्दका अर्थ गीता अध्याय ७ श्लोक १४ में कही हुई भगवान्की त्रिगुणमयी माया समझना चाहिये ।

† सत्त्वगुणके सङ्गसे देवयोनिमें एवं रजोगुणके सङ्गसे मनुष्ययोनिमें और तमोगुणके सङ्गसे पशु, पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म होता है ।

‡ दृश्यमात्र सम्पूर्ण जगत् मायाका कार्य होनेसे क्षणभङ्गुर, नाशवान्, जड़ और अनित्य है तथा जीवात्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी एवं शुद्ध, बोधस्वरूप, सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही सनातन अंश है, इस प्रकार समझकर सम्पूर्ण मायिक पदार्थोंके सङ्गका सर्वथा त्याग करके परमपुरुष परमात्मामें ही एकीभावसे नित्य स्थित रहनेका नाम उनको 'तत्त्वसे जानना' है ।

बुद्धिसे ध्यानके* द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके† द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके‡ द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं ॥२४॥ परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं; वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं ॥२५॥ हे अर्जुन! यावन्मात्र जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न जान ॥२६॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥२७॥ क्योंकि जो पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपनेद्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता, इससे वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥२८॥ और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥२९॥ जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण

---

* जिसका वर्णन गीता अध्याय ६ में श्लोक ११ से ३२ तक विस्तारपूर्वक किया है ।

† जिसका वर्णन गीता अध्याय २ में श्लोक ११ से ३० तक विस्तारपूर्वक किया है ।

‡ जिसका वर्णन गीता अध्याय २ में श्लोक ४० से अध्याय समाप्तिपर्यन्त विस्तारपूर्वक किया है ।

भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥३०॥ हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है ॥३१॥ जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता ॥३२॥ हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥ इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको* तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परमब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥३४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ''क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग'' नामक तेरहवाँ अध्याय ॥ १३ ॥

—०—

चौदहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले—ज्ञानोंमें भी अति उत्तम उस परम ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं ॥१॥ इस

* क्षेत्रको जड़, विकारी, क्षणिक और नाशवान् तथा क्षेत्रज्ञको नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही ''उनके भेदको जानना'' है ।

ज्ञानको आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते ॥२॥ हे अर्जुन ! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूल-प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतन समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ । उस जड़-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥ हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं; प्रकृति तो उन सबकी गर्भधारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥

हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण— ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं ॥५॥ हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है ॥ ६ ॥ हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्तिसे उत्पन्न जान । वह इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है ॥७॥ हे अर्जुन ! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाले तमोगुणको तो अज्ञानसे उत्पन्न जान । वह इस जीवात्माको प्रमाद* , आलस्य† और निद्राके द्वारा बाँधता

* इन्द्रियों और अन्तःकरणकी व्यर्थ चेष्टाओंका नाम "प्रमाद" है ।

† कर्तव्यकर्ममें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम "आलस्य" है ।

है ॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है और रजोगुण कर्ममें तथा तमोगुण तो ज्ञानको ढककर प्रमादमें भी लगाता है ॥ ९ ॥ हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण होता है अर्थात् बढ़ता है ॥ १० ॥ जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ॥११॥ हे अर्जुन ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धिसे कर्मोंका सकाम-भावसे आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं ॥१२॥ हे अर्जुन ! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब ही उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ॥१४॥ रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है; तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ़योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥१५॥ श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है; राजस कर्मका फल दुःख एवं

तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है ॥१६॥ सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निस्सन्देह लोभ तथा तमोगुणसे प्रमाद* और मोह† उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ॥१७॥ सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं ॥१८॥

जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥१९॥ यह पुरुष शरीरकी‡ उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ परमानन्दको प्राप्त होता है ॥२०॥

अर्जुन बोले—इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता

*- † इसी अध्यायके श्लोक १३में देखना चाहिये ।

‡ बुद्धि, अहंकार और मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच भूत, पाँच इन्द्रियोंके विषय—इस प्रकार इन तेईस तत्त्वोंका पिण्डरूप यह स्थूल शरीर प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका ही कार्य है, इसलिये इन तीनों गुणोंको इसकी उत्पत्तिका कारण कहा है ।

है; तथा हे प्रभो ! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है ? ॥२१॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको* और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको† भी न तो प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा करता है‡ ॥२२॥ जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें बरतते+ हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता ॥२३॥ जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा

---

* अन्तःकरण और इन्द्रियादिकोंमें आलस्यका अभाव होकर जो एक प्रकारकी चेतनता होती है, उसका नाम 'प्रकाश' है ।

† निद्रा और आलस्य आदिकी बहुलतासे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनशक्तिके लय होनेको यहाँ ''मोह'' नामसे समझना चाहिये ।

‡ जो पुरुष एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही नित्य, एकीभावसे स्थित हुआ इस त्रिगुणमयी मायाके प्रपञ्चरूप संसारसे सर्वथा अतीत हो गया है, उस गुणातीत पुरुषके अभिमानरहित अन्तःकरणमें तीनों गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहादि वृत्तियोंके प्रकट होने और न होनेपर किसी कालमें भी इच्छा-द्वेष आदि विकार नहीं होते हैं, यही उसके गुणोंसे अतीत होनेके प्रधान लक्षण हैं ।

+ त्रिगुणमयी मायासे उत्पन्न हुए अन्तःकरणके सहित इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें विचरना ही ''गुणोंका गुणोंमें बरतना'' है ।

माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है ॥२४॥ जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है ॥२५॥ और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके* द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है ॥२६॥ क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ ॥२७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें "गुणत्रयविभागयोग" नामक चौदहवाँ अध्याय ॥१४॥

—०—

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर वासुदेव भगवान्को ही अपना स्वामी मानता हुआ, स्वार्थ और अभिमानको त्यागकर, श्रद्धा और भावके सहित परम प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करनेको "अव्यभिचारी भक्तियोग" कहते हैं ।

पंद्रहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले—आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले* और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले† जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी‡ कहते हैं, तथा वेद जिसके पत्ते+ कहे गये हैं—उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है × ॥१॥ उस संसारवृक्षकी तीनों गुणोंरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं

---

* आदिपुरुष नारायण वासुदेव भगवान् ही नित्य और अनन्त तथा सबके आधार होनेके कारण और सबसे ऊपर नित्यधाममें सगुणरूपसे वास करनेके कारण ऊर्ध्व नामसे कहे गये हैं और वे मायापति, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही इस संसाररूप वृक्षके कारण हैं, इसलिये इस संसार-वृक्षको "ऊर्ध्वमूलवाला" कहते हैं ।

† उस आदिपुरुष परमेश्वरसे उत्पत्तिवाला होनेके कारण तथा नित्यधामसे नीचे ब्रह्मलोकमें वास करनेके कारण, हिरण्यगर्भरूप ब्रह्माको परमेश्वरकी अपेक्षा 'अधः' कहा है और वही इस संसारका विस्तार करनेवाला होनेसे इसकी मुख्य शाखा है, इसलिये इस संसार-वृक्षको "अधःशाखावाला" कहते हैं ।

‡ इस वृक्षका मूल कारण परमात्मा अविनाशी है तथा अनादिकालसे इसकी परम्परा चली आती है, इसलिये इस संसारवृक्षको "अविनाशी" कहते हैं ।

+ इस वृक्षकी शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट होनेवाले और यज्ञादिक कर्मोंके द्वारा इस संसारवृक्षकी रक्षा और वृद्धिके करनेवाले एवं शोभाको बढ़ानेवाले होनेसे वेद "पत्ते" कहे गये हैं ।

× भगवान्‌की योगमायासे उत्पन्न हुआ संसार क्षणभङ्गुर, नाशवान् और दुःखरूप है; इसके चिन्तनको त्यागकर, केवल परमेश्वरका ही नित्य-निरन्तर, अनन्यप्रेमसे चिन्तन करना "वेदके तात्पर्यको जानना" है ।

विषय*-भोगरूप कोंपलोंवाली देव,मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ† नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें‡ कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ॥२॥ इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता,+ क्योंकि न तो इसका आदि है卐 और न अन्त है× तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है§। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप

* शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— ये पाँचों स्थूलदेह और इन्द्रियोंकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण उन शाखाओंकी ''कोंपलों'' के रूपमें कहे गये हैं ।

† मुख्य शाखारूप ब्रह्मासे सम्पूर्ण लोकोंके सहित देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियोंकी उत्पत्ति और विस्तार हुआ है, इसलिये उनका यहाँ ''शाखाओं'' के रूपमें वर्णन किया है ।

‡ अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंको केवल मनुष्ययोनिमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली कहनेका कारण यह है कि अन्य सब योनियोंमें तो केवल पूर्वकृत कर्मोंके फलको भोगनेका ही अधिकार है और मनुष्ययोनिमें नवीन कर्मोंके करनेका भी अधिकार है ।

+ इस संसारका जैसा स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है और जैसा देखा-सुना जाता है, वैसा तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् नहीं पाया जाता, जिस प्रकार आँख खुलनेके पश्चात् स्वप्नका संसार नहीं पाया जाता ।

卐इसका आदि नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह है कि इसकी परम्परा कबसे चली आती है, इसका कोई पता नहीं है ।

× इसका अन्त नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह है कि इसकी परम्परा कबतक चलती रहेगी, इसका कोई पता नहीं है ।

§ इसकी अच्छी प्रकार स्थिति भी नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह है कि वास्तवमें यह क्षणभङ्गुर और नाशवान् है ।

अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप* शस्त्रद्वारा काटकर†— ॥३॥ उसके पश्चात् उस परम-पदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ॥४॥ जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥५॥ जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; वही मेरा परमधाम‡ है ॥६॥

इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश

---

* ब्रह्मलोकतकके भोग क्षणिक और नाशवान् हैं, ऐसा समझकर, इस संसारके समस्त विषयभोगोंमें सत्ता, सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना ही ''दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र'' है ।

† स्थावर, जङ्गमरूप यावन्मात्र संसारके चिन्तनका तथा अनादिकालसे अज्ञानके द्वारा दृढ़ हुई अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका त्याग करना ही संसार-वृक्षका अवान्तर ''मूलोंके सहित काटना'' है ।

‡ ''परमधाम'' का अर्थ गीता अध्याय ८ श्लोक २१ में देखना चाहिये ।

है* और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है ॥७॥ वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है— उसमें जाता है ॥८॥ यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके—अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है ॥९॥ शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको अथवा विषयोंको भोगते हुएको— इस प्रकार तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्वसे जानते हैं ॥१०॥ यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं; किन्तु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते ॥११ ॥ सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है—उसको तू मेरा ही तेज जान ॥१२॥ और मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता

---

* जैसे विभागरहित स्थित हुआ भी महाकाश घटोंमें पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतोंमें एकीरूपसे स्थित हुआ भी परमात्मा पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत होता है, इसीसे देहमें स्थित जीवात्माको भगवान्ने अपना ''सनातन अंश'' कहा है ।

हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ ॥१३॥ मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाला प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार* प्रकारके अन्नको पचाता हूँ ॥१४॥ मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन† होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य‡ हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥१५॥

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी ये दो प्रकारके+ पुरुष हैं । इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥१६॥ इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश

---

* भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य, ऐसे चार प्रकारके अन्न होते हैं, उनमें जो चबाकर खाया जाता है, वह 'भक्ष्य' है—जैसे रोटी आदि और जो निगला जाता है, वह 'भोज्य' है—जैसे दूध आदि तथा जो चाटा जाता है, वह 'लेह्य' है—जैसे चटनी आदि और जो चूसा जाता है, वह 'चोष्य' है—जैसे ऊख आदि ।

† विचारके द्वारा बुद्धिमें रहनेवाले संशय, विपर्यय आदि दोषोंको हटानेका नाम ''अपोहन'' है ।

‡ सर्ववेदोंका तात्पर्य परमेश्वरको जाननेका है, इसलिये सब वेदोंद्वारा ''जाननेके योग्य'' एक परमेश्वर ही है ।

+ गीता अध्याय ७ श्लोक ४-५ में जो अपरा और परा प्रकृतिके नामसे कहे गये हैं तथा अ० १३ श्लोक १ में जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके नामसे कहे गये हैं, उन्हीं दोनोंका यहाँ क्षर और अक्षरके नामसे वर्णन किया है ।

करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा— इस प्रकार कहा गया है ॥१७॥ क्योंकि मैं नाशवान् जड़वर्ग-क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥१८॥ भारत ! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ॥१९॥ हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया , इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है ॥२०॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें ''पुरुषोत्तमयोग'' नामक पंद्रहवाँ अध्याय ॥१५॥

—०—

सोलहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति* और सात्त्विक दान†, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ॥१॥ मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण‡, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्तःकरणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका

---

* परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे ध्यानकी निरन्तर गाढ़ स्थितिका ही नाम ''ज्ञानयोगव्यवस्थिति'' समझना चाहिये।

† गीता अध्याय १७ श्लोक २० में जिसका विस्तार किया है।

‡ अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो, वैसे-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहनेका नाम ''सत्यभाषण'' है।

अभाव ॥२॥ तेज*, क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि† एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं ॥३॥

हे पार्थ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी—ये सब आसुरी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं ॥४॥ दैवी-सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी-सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है । इसलिये हे अर्जुन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है ॥५॥

हे अर्जुन! इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्यसमुदाय दो ही प्रकारका है, एक तो दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला । उनमेंसे दैवी प्रकृतिवाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन ॥६॥ आसुर-स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंको ही नहीं जानते । इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥७॥ वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते

* श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम "तेज" है कि जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ।

† गीता अध्याय १३ श्लोक ७ की टिप्पणी देखनी चाहिये ।

हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके, अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है । इसके सिवा और क्या है ? ॥८॥ इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके—जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्के नाशके लिये ही समर्थ होते हैं ॥९॥ वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर, अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके संसारमें विचरते हैं ॥१०॥ तथा वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार माननेवाले होते हैं ॥११॥ वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर विषय भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंका संग्रह करनेकी चेष्टा करते हैं ॥१२॥ वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा । मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जायगा ॥१३॥ वह शत्रु मेरे-द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा । मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ । मैं सब सिद्धियोंसे युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ ॥१४॥ मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ । मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा,

दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥१५-१६॥

वे अपने-आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिरहित यजन करते हैं ॥१७॥ वे अहङ्कार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं ॥१८॥ उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ ॥१९॥ हे अर्जुन ! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर ही जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥२०॥

काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार* आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥२१॥ हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका

* सर्व अनर्थोंके मूल और नरककी प्राप्तिमें हेतु होनेसे यहाँ काम, क्रोध और लोभको "नरकके द्वार" कहा है।

आचरण करता है*, इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है ॥२२॥ जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही ॥२३॥ इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है । ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है ॥२४॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें "दैवासुरसम्पद्विभागयोग" नामक सोलहवाँ अध्याय ॥१६॥

—०—

* अपने उद्धारके लिये भगवदाज्ञानुसार बरतना ही "अपने कल्याणका आचरण करना" है ।

सत्रहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर श्रद्धासे युक्त हुए देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी? ॥१॥ श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा* सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है । उसको तू मुझसे सुन ॥२॥ हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है । यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है ॥३॥ सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं ॥४॥ जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं ॥५॥ जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं†, उन अज्ञानियोंको तू आसुर-स्वभाववाले जान ॥६॥

---

* अनन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके सञ्चित संस्कारसे उत्पन्न हुई श्रद्धा ''स्वभावजा'' श्रद्धा कही जाती है ।

† शास्त्रसे विरुद्ध उपवासादि घोर आचरणोंद्वारा शरीरको सुखाना एवं भगवान्के

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं। उनके इस पृथक्-पृथक् भेदको तू मुझसे सुन ॥७॥ आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले* तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥८॥ कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥९॥ जो भोजन अधपका, रसरहित, दुगर्न्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ॥१०॥

जो शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनको समाधान करके, फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है ॥११॥ परन्तु हे अर्जुन ! केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फलको भी दृष्टिमें रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान ॥१२॥ शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और

अंशस्वरूप जीवात्माको क्लेश देना, भूतसमुदायको और अन्तर्यामी परमात्माको ''कृश करना'' है।

* जिस भोजनका सार शरीरमें बहुत कालतक रहता है, उसको स्थिर रहनेवाला कहते हैं।

और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥१३॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु* और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है ॥१४॥ जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है† तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है ॥१५॥ मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥१६॥ फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं ॥१७॥ जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा अन्य किसी स्वार्थके लिये भी स्वभावसे या पाखण्डसे किया जाता है, वह अनिश्चित‡ एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है ॥१८॥ जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये

---

* यहाँ 'गुरु' शब्दसे माता, पिता, आचार्य और वृद्ध एवं अपनेसे जो किसी प्रकार भी बड़े हों, उन सबको समझना चाहिये ।

† मन और इन्द्रियोंद्वारा जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा ही कहनेका नाम 'यथार्थ भाषण' है ।

‡ 'अनिश्चित फलवाला' उसको कहते हैं कि जिसका फल होने न होनेमें शङ्का हो ।

किया जाता है—वह तप तामस कहा गया है ॥ १९ ॥ दान देना ही कर्तव्य है— ऐसे भावसे जो दान देश* तथा काल† और पात्रके‡ प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है ॥२०॥ किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक+ तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे卐 अथवा फलको दृष्टिमें × रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ॥२१॥ जो दान बिना सत्कारके अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-कालमें और कुपात्रके प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥२२॥

ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है; उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये॥२३॥ इसलिये वेद-मन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और

---

*-† जिस देश-कालमें जिस वस्तुका अभाव हो, वही देश-काल उस वस्तुद्वारा प्राणियोंकी सेवा करनेके लिये योग्य समझा जाता है ।

‡ भूखे, अनाथ, दुखी, रोगी और असमर्थ तथा भिक्षुक आदि तो अन्न, वस्त्र और ओषधि एवं जिस वस्तुका जिसके पास अभाव हो, उस वस्तुद्वारा सेवा करनेके लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं और श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान् ब्राह्मणजन धनादि सब प्रकारके पदार्थोंद्वारा सेवा करनेके लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं ।

+ जैसे प्रायः वर्तमान समयके चन्दे-चिट्ठे आदिमें धन दिया जाता है ।

卐 अर्थात् बदलेमें अपना सांसारिक कार्य सिद्ध करनेकी आशासे ।

× अर्थात् मान बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये अथवा रोगादिकी निवृत्तिके लिये ।

तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ॥२४॥ तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं ॥२५॥ 'सत्'—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें और श्रेष्ठभावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है ॥२६॥ तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है ॥२७॥ हे अर्जुन ! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है—वह समस्त 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही ॥२८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें "श्रद्धात्रयविभागयोग" नामक सत्रहवाँ अध्याय ॥१७॥

—०—

अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले— हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे वासुदेव ! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ ॥१॥ श्रीभगवान् बोले—कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मोंके* त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको† त्याग कहते हैं ॥२॥ कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं ॥३॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! संन्यास और त्याग, इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन । क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है ॥४॥ यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि यज्ञ , दान और

---

* स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये तथा रोग-संकटादिकी निवृत्तिके लिये जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं, उनका नाम ''काम्यकर्म'' है ।

† ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने कर्तव्यकर्म हैं, उन सबमें इस लोक और परलोककी सम्पूर्ण कामनाओंके त्यागका नाम 'सब कर्मोंके फलका त्याग'' है ।

तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको* पवित्र करनेवाले हैं ॥५॥ इसलिये हे पार्थ ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये, यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥६॥ (निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है) परन्तु नियत कर्मका† स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है । इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है ॥७॥ जो कुछ कर्म है, वह सब दुःखरूप ही है—ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको किसी प्रकार भी नहीं पाता ॥८॥ हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है—इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है ॥९॥ जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता—वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है ॥१०॥ क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है; इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा

* वह मनुष्य "बुद्धिमान्" है, जो फल और आसक्तिको त्यागकर, केवल भगवदर्थ कर्म करता है ।

† इसी अध्यायके श्लोक ४८की टिप्पणीमें इसका अर्थ देखना चाहिये ।

जाता है ॥११॥ कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किन्तु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता ॥१२॥

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले सांख्यशास्त्रमें कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान ॥१३॥ इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान* और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण† एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव‡ है ॥१४॥ मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है—उसके ये पाँचों कारण हैं ॥१५॥ परन्तु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि+ होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता ॥१६॥

---

* जिसके आश्रय कर्म किये जायँ, उसका नाम ''अधिष्ठान'' है।

† जिन-जिन इन्द्रियादिकों और साधनोंके द्वारा कर्म किये जाते हैं उनका नाम 'करण'' है।

‡ पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंका नाम ''दैव'' है।

+ सत्सङ्ग और शास्त्रके अभ्याससे तथा भगवदर्थ कर्म और उपासनाके करनेसे मनुष्यकी बुद्धि शुद्ध होती है, इसलिये जो उपर्युक्त साधनोंसे रहित है, उसकी बुद्धि अशुद्ध है, ऐसा समझना चाहिये।

जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है* ॥१७॥ ज्ञाता†, ज्ञान‡ और ज्ञेय+ — यह तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा है और कर्ता卐, करण × तथा क्रिया § — यह तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है ॥१८॥

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ही कहे गये हैं; उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन ॥१९॥ जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको

* जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी हिंसा होती देखनेमें आवे तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है, वैसे ही जिस पुरुषका देहमें अभिमान नहीं है और स्वार्थरहित केवल संसारके हितके लिये ही जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है; क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती तथा बिना कर्तृत्वाभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है, इसलिये वह पुरुष 'पापसे नहीं बँधता' ।

† जाननेवालेका नाम ''ज्ञाता'' है ।

‡ जिसके द्वारा जाना जाय, उसका नाम ''ज्ञान'' है ।

+ जाननेमें आनेवाली वस्तुका नाम ''ज्ञेय'' है ।

卐 कर्म करनेवालेका नाम ''कर्ता'' है ।

× जिन साधनोंसे कर्म किया जाय, उनका नाम ''करण'' है ।

§ करनेका नाम ''क्रिया'' है ।

विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान ॥२०॥ किन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान ॥२१॥ परन्तु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थसे रहित और तुच्छ है—वह तामस कहा गया है ॥२२॥

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो—वह सात्त्विक कहा जाता है ॥२३॥ परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहङ्कारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ॥२४॥ जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है ॥२५॥

जो कर्ता सङ्गरहित, अहङ्कारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है—वह सात्त्विक कहा जाता है ॥२६॥ जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिप्त है—वह राजस कहा गया है ॥२७॥ जो कर्ता अयुक्त, शिक्षासे रहित, घमंडी, धूर्त और

दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला तथा शोक करनेवाला, आलसी और दीर्घसूत्री* है—वह तामस कहा जाता है ॥२८॥ हे धनंजय! अब तू बुद्धिका और धृतिका भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक कहा जानेवाला सुन ॥२९॥ हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग† और निवृत्तिमार्गको‡, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है—वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥३०॥ हे पार्थ! मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ॥३१॥ हे अर्जुन! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है ॥३२॥

हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे+ मनुष्य

---

* "दीर्घसूत्री" उसको कहा जाता है कि जो थोड़े कालमें होने लायक साधारण कार्यको भी कर लेंगे, ऐसी आशासे बहुत कालतक नहीं पूरा करता ।

† गृहस्थमें रहते हुए फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदर्पणबुद्धिसे केवल लोकशिक्षाके लिये राजा जनककी भाँति बरतनेका नाम "प्रवृत्तिमार्ग" है ।

‡ देहाभिमानको त्यागकर केवल सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित हुए श्रीशुकदेवजी और सनकादिकोंकी भाँति संसारसे उपराम होकर विचरनेका नाम "निवृत्तिमार्ग" है ।

+ भगवद्विषयके सिवाय अन्य सांसारिक विषयोंको धारण करना ही व्यभिचार दोष है, उस दोषसे जो रहित है, वह "अव्यभिचारिणी धारणा" है ।

ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको* धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है ॥३३॥ परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन ! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है वह धारणशक्ति राजसी है ॥३४॥ हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको तथा उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है—वह धारणशक्ति तामसी है ॥३५॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे सुन । जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है—जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत† होता है, परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है; इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है ॥३६-३७॥ जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके

---

* मन, प्राण, और इन्द्रियोंको भगवत्प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान और निष्काम कर्मोंमें लगानेका नाम "उनकी क्रियाओंको धारण करना" है ।

† जैसे खेलमें आसक्तिवाले बालकको, विद्याका अभ्यास मूढ़ताके कारण प्रथम विषके तुल्य भासता है, वैसे ही विषयोंमें आसक्तिवाले पुरुषको भगवद्भजन, ध्यान, सेवा आदि साधनोंका अभ्यास मर्म न जाननेके कारण प्रथम "विषके तुल्य प्रतीत होता" है ।

तुल्य*है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है ॥३८॥ जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है— वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है ॥३९॥ पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी वह ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो ॥४०॥

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं ॥४१॥ अन्तःकरणका निग्रह करना; इन्द्रियोंका दमन करना; धर्मपालनके लिये कष्ट सहना; बाहर-भीतरसे शुद्ध† रहना; दूसरोंके अपराधोंको क्षमा करना; मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना; वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदिमें श्रद्धा रखना; वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्माके तत्त्वका अनुभव करना—ये सब-के-सब ही ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥४२॥ शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब-के-सब ही क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ॥४३॥ खेती,

---

* बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाले सुखको ''परिणाममें विषके तुल्य'' कहा है ।

† गीता अ० १३ श्लोक ७ की टिप्पणीमें देखना चाहिये ।

गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार*—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं । तथा सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है ।।४४।। अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है । अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन ।।४५।। जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है†, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके‡ मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।।४६।। अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता ।।४७।। अतएव हे

* वस्तुओंके खरीदने और बेचनेमें तौल, नाप और गिनती आदिसे कम देना अथवा अधिक लेना, वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा, आढ़त और दलाली ठहराकर, उससे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे दूसरेके हकको ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषोंसे रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओंका व्यापार है, उसका नाम ''सत्यव्यवहार'' है ।

† जैसे बर्फ जलसे व्याप्त है, वैसे ही सम्पूर्ण संसार सच्चिदानन्दघन परमात्मासे व्याप्त है ।

‡ जैसे पतिव्रता स्त्री, पतिको ही सर्वस्व समझकर पतिका चिन्तन करती हुई, पतिकी आज्ञानुसार पतिके ही लिये मन, वाणी, शरीरसे कर्म करती है, वैसे ही

कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त होनेपर भी सहज* कर्मको नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त हैं ॥४८॥ सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है ॥४९॥ जो कि ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य-सिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र ! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ ॥५०॥

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके† द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर

परमेश्वरको ही सर्वस्व समझकर परमेश्वरका चिन्तन करते हुए परमेश्वरकी आज्ञाके अनुसार मन, वाणी और शरीरसे परमेश्वरके ही लिये स्वाभाविक कर्तव्यकर्मका आचरण करना ''कर्मद्वारा परमेश्वरको पूजना'' है ।

* प्रकृतिके अनुसार शास्त्रविधिसे नियत किये हुए, जो वर्णाश्रमके धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म हैं, उनको ही यहाँ 'स्वधर्म', 'सहजकर्म, 'स्वकर्म', नियतकर्म', 'स्वभावजकर्म', 'स्वभावनियतकर्म' इत्यादि नामोंसे कहा है ।

† इसी अध्यायके श्लोक ३३ में जिसका विस्तार है ।

ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है ॥५१-५३॥ फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है । ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला* योगी मेरी पराभक्तिको† प्राप्त हो जाता है ॥५४॥ उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है; तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है ॥५५॥

मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ॥५६॥ सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके‡ तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो ॥५७॥ उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा

---

* गीता अ० ६ श्लोक २९ में देखना चाहिये ।

† जो तत्त्वज्ञानकी पराकाष्ठा है तथा जिसको प्राप्त होकर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता, वही यहाँ 'पराभक्ति', 'ज्ञानकी परानिष्ठा', 'परम नैष्कर्म्य-सिद्धि' और 'परमसिद्धि' इत्यादि नामोंसे कही गयी है ।

‡ गीता अ० ९ श्लोक २७ में जिसकी विधि कही है ।

तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ॥५८॥ जो तू अहङ्कारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा ॥५९॥

हे कुन्तीपुत्र ! जिस कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा ॥६०॥ हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है ॥६१॥ हे भारत ! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें* जा । उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परमधामको प्राप्त होगा ॥६२॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया । अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर जैसे चाहता है, वैसे ही कर ॥६३॥ सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन । तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक

---

* लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर एवं शरीर और संसारमें अहंता, ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्यभावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन, स्मरण रखते हुए ही उनके आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल परमेश्वरके लिये, आचरण करना यह "सब प्रकारसे परमात्माके ही शरण होना है ।"

वचन मैं तुझसे कहूँगा ॥६४॥ हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर । ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥६५॥ सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें* आ जा । मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर ॥६६॥

तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्ति† रहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये; तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये ॥६७॥ जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥६८॥ उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं ॥६९॥ जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे‡ पूजित

* इसी अध्यायके श्लोक ६२ की टिप्पणीमें "शरण" का भाव देखना चाहिये ।

† वेद, शास्त्र और परमेश्वर तथा महात्मा और गुरुजनोंमें श्रद्धा, प्रेम और पूज्य-भावका नाम "भक्ति" है ।

‡ गीता अध्याय ४ श्लोक ३३ का अर्थ देखना चाहिये ।

होऊँगा—ऐसा मेरा मत है ।।७०।। जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा ।।७१।।

हे पार्थ ! क्या इस (गीताशास्त्र) को तूने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ? ।।७२।। अर्जुन बोले—हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।।७३।।

संजय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवादको सुना ।।७४।। श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है ।।७५।। हे राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।।७६।। हे राजन् ! श्रीहरिके* उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।।७७।। हे राजन् !

* जिसका स्मरण करनेसे पापोंका नाश होता है, उसका नाम ''हरि'' है ।

जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है ॥७८॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादमें "मोक्षसंन्यासयोग" नामक अठारहवाँ अध्याय ॥१८॥

—०—

'श्रीमद्भगवद्गीता' आनन्दचिद्घन, षडैश्वर्यपूर्ण, चराचरवन्दित, परमपुरुषोत्तम साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है । यह अत्यन्त रहस्योंसे पूर्ण है । परम दयामय भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही किसी अंशमें इसका रहस्य समझमें आ सकता है । जो पुरुष परम श्रद्धा और प्रेममयी विशुद्ध भक्तिसे अपने हृदयको भरकर भगवद्गीताका मनन करते हैं, वे ही भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके गीताके स्वरूपकी किसी अंशमें झाँकी कर सकते हैं । अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले नर-नारियोंको उचित है कि वे भक्तवर अर्जुनको आदर्श मानकर अपनेमें अर्जुनके-से दैवी गुणोंका अर्जन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीताका श्रवण, मनन, अध्ययन करें तथा भगवान्के आज्ञानुसार यथायोग्य तत्परताके साथ साधनमें लग जायँ । जो पुरुष इस प्रकार करते हैं, उनके अन्तःकरणमें नित्य नये-नये परमानन्ददायक अनुपम और दिव्य भावोंकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं तथा वे सर्वथा शुद्धान्तःकरण होकर भगवान्की अलौकिक कृपासुधाका रसास्वादन करते हुए शीघ्र ही भगवान्को प्राप्त हो जाते हैं ।

—०—

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

त्यागसे भगवत्प्राप्ति

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी मनुष्य त्यागके द्वारा परमात्माको प्राप्त कर सकता है । परमात्माको प्राप्त करनेके लिये "त्याग" ही मुख्य साधन है । अतएव सात श्रेणियोंमें विभक्त करके त्यागके लक्षण संक्षेपमें लिखे जाते हैं ।

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग ।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्यभोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना, यह पहली श्रेणीका त्याग है ।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग ।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे एवं रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और

उपासनादि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना*, यह दूसरी श्रेणीका त्याग है ।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग ।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना, यह तीसरी श्रेणीका त्याग है ।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग ।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना इत्यादि जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं, उन सबका त्याग करना† यह चौथी श्रेणीका त्याग है ।

(५) सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग ।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह

* यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय जो कि स्वरूपसे तो सकाम हो, परंतु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या कर्मोपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोक-संग्रहके लिये उसका कर लेना सकाम कर्म नहीं है ।

† यदि ऐसा कोई अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीरसम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या लोकशिक्षामें

एवं शरीर-सम्बन्धी खानपान इत्यादि जितने कर्तव्य-कर्म हैं, उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना ।

(क) ईश्वर-भक्तिमें आलस्यका त्याग ।

अपने जीवनका परम कर्तव्य मानकर परमदयालु, सबके सुहृद्, परमप्रेमी, अन्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और प्रेमकी रहस्यमयी कथाका श्रवण, मनन और पठन-पाठन करना तथा आलस्यरहित होकर उनके परम पुनीत नामका उत्साहपूर्वक ध्यानसहित निरन्तर जप करना ।

(ख) ईश्वर-भक्तिमें कामनाका त्याग ।

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको क्षणभङ्गुर, नाशवान् और भगवान्‌की भक्तिमें बाधक समझकर किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये न तो भगवान्‌से प्रार्थना करना और न मनमें इच्छा ही रखना तथा किसी प्रकारका संकट आ जानेपर भी उसके निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना न करना अर्थात् हृदयमें ऐसा भाव रखना कि प्राण भले ही चले जायँ, परंतु इस मिथ्या जीवनके लिये विशुद्ध भक्तिमें कलङ्क लगाना उचित नहीं है । जैसे भक्त प्रह्लादने पिताद्वारा बहुत सताये जानेपर भी अपने कष्टनिवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना नहीं की । अपना अनिष्ट करनेवालोंको भी "भगवान् तुम्हारा बुरा करें" इत्यादि किसी प्रकारके कठोर शब्दोंसे शाप न देना और उनका अनिष्ट होनेकी मनमें इच्छा भी न रखना । भगवान्‌की भक्तिके अभिमानमें आकर किसीको वरदानादि भी न देना, जैसे कि 'भगवान् तुम्हें आरोग्य करें", "भगवान् तुम्हारा दुःख दूर करें", "भगवान्

किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है; क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धुबान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थ स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोकमर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है ।

तुम्हारी आयु बढ़ावें'' इत्यादि ।

पत्र-व्यवहारमें भी सकाम शब्दोंका न लिखना अर्थात् जैसे ''अठे उठे श्रीठाकुरजी सहाय छै'', ''ठाकुरजी बिक्री चलासी'', ''ठाकुरजी वर्षा करसी'', ''ठाकुरजी आराम करसी'' इत्यादि सांसारिक वस्तुओंके लिये ठाकुरजीसे प्रार्थना करनेके रूपमें सकाम शब्द मारवाड़ी समाजमें प्रायः लिखे जाते हैं, वैसे न लिखकर ''श्रीपरमात्मदेव आनन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान हैं'', ''श्रीपरमेश्वरका भजन सार है'' इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना तथा इसके सिवाय अन्य किसी प्रकारसे भी लिखने-बोलने आदिमें सकाम शब्दोंका प्रयोग न करना ।

(ग) देवताओंके पूजनमें आलस्य और कामनाका त्याग ।

शास्त्र-मर्यादासे अथवा लोक-मर्यादासे पूजनेके योग्य देवताओंको पूजनेका नियत समय आनेपर उनका पूजन करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है एवं भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना परम कर्तव्य है, ऐसा समझकर उत्साहपूर्वक विधिके सहित उनका पूजन करना एवं उनसे किसी प्रकारकी भी कामना न करना ।

उनके पूजनके उद्देश्यसे रोकड़, बहीखाते आदिमें भी सकाम शब्द न लिखना अर्थात् जैसे मारवाड़ी समाजमें नये बसनेके दिन अथवा दीपमालिकाके दिन श्रीलक्ष्मीजीका पूजन करके ''श्रीलक्ष्मीजी लाभ मोकलो देसी'', ''भण्डार भरपूर राखसी'', ''ऋद्धि-सिद्धि करसी'', ''श्रीकालीजीके आसरे'', ''श्रीगङ्गाजीके आसरे'' इत्यादि बहुत-से सकाम शब्द लिखे जाते हैं, वैसे न लिखकर ''श्रीलक्ष्मीनारायणजी सब जगह आनन्दरूपसे विराजमान हैं'' तथा ''बहुत आनन्द और उत्साहके सहित श्रीलक्ष्मीजीका पूजन किया'' इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना और नित्य रोकड़ नकल आदिके आरम्भ करनेमें भी उपर्युक्त रीतिसे ही लिखना ।

(घ) माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवामें आलस्य और कामनाका त्याग।

माता, पिता, आचार्य एवं और भी जो पूजनीय पुरुष वर्ण, आश्रम, अवस्था और गुणोंमें किसी प्रकार भी अपनेसे बड़े हों, उन सबकी सब प्रकारसे नित्य सेवा करना और उनको नित्य प्रणाम करना मनुष्यका परम कर्तव्य है। इस भावको हृदयमें रखते हुए आलस्यका सर्वथा त्याग करके, निष्कामभावसे उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार उनकी सेवा करनेमें तत्पर रहना।

(ङ) यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

पञ्चमहायज्ञादि* नित्यकर्म एवं अन्यान्य नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञादिका करना तथा अन्न, वस्त्र, विद्या, औषध और धनादि पदार्थोंके दानद्वारा सम्पूर्ण जीवोंको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी और शरीरसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना तथा अपने धर्मका पालन करनेके लिये हर प्रकारसे कष्ट सहन करना इत्यादि शास्त्रविहित कर्मोंमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करके एवं अपना परम कर्तव्य मानकर श्रद्धासहित उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार, केवल भगवदर्थ ही उनका आचरण करना।

(च) आजीविकाद्वारा गृहस्थ-निर्वाहके उपयुक्त कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग

आजीविकाके कर्म जैसे वैश्यके लिये कृषि, गोरक्ष्य और

---

* पञ्चमहायज्ञ ये हैं— देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषियज्ञ (वेदपाठ, सन्ध्या-गायत्रीजपादि), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्धादि), मनुष्ययज्ञ (अतिथिसेवा) और भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव)।

वाणिज्य आदि कहे हैं, वैसे ही जो अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार शास्त्रोंमें विधान किये गये हों, उन सबके पालनद्वारा संसारका हित करते हुए ही गृहस्थका निर्वाह करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है । इसलिये अपना कर्तव्य मानकर लाभ-हानिको समान समझते हुए सब प्रकारकी कामनाओंका त्याग करके उत्साहपूर्वक उपर्युक्त कर्मोंका करना* ।

(छ) शरीरसम्बन्धी कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शरीर-निर्वाहके लिये शास्त्रोक्त रीतिसे भोजन, वस्त्र और औषधादिके सेवनरूप जो शरीरसम्बन्धी कर्म हैं, उनमें सब प्रकारके भोगविलासोंकी कामनाका त्याग करके एवं सुख-दुःख, लाभ-हानि और जीवन-मरण आदिको समान समझकर केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही योग्यताके अनुसार उनका आचरण करना ।

पूर्वोक्त चार श्रेणियोंके त्यागसहित इस पाँचवीं श्रेणीके त्यागानुसार सम्पूर्ण दोषोंका और सब प्रकारकी कामनाओंका नाश होकर केवल एक भगवत्प्राप्तिकी ही तीव्र इच्छाका होना ज्ञानकी पहली भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये ।

---

* उपर्युक्त भावसे करनेवाले पुरुषके कर्म लोभसे रहित होनेके कारण उनमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आ सकता; क्योंकि आजीविकाके कर्मोंमें लोभ ही विशेषरूपसे पाप करानेका हेतु है । इसलिये मनुष्यको चाहिये कि गीता अध्याय १८ श्लोक ४४ की टिप्पणीमें जैसे वैश्यके प्रति वाणिज्यके दोषोंका त्याग करनेके लिये विस्तारपूर्वक लिखा है, उसी प्रकार अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सम्पूर्ण कर्मोंमें सब प्रकारके दोषोंका त्याग करके केवल भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌के लिये निष्कामभावसे ही सम्पूर्ण कर्मोंका आचरण करे ।

(६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग ।

धन, भवन और वस्त्रादि सम्पूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि सम्पूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषयभोगरूप पदार्थ हैं, उन सबको क्षणभङ्गुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना, यह छठी श्रेणीका त्याग है* ।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है । इसलिये उनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्‌का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है । विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषयभोग और व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता एवं उनके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म भगवान्‌के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं ।

---

* सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग तो तीसरी और पाँचवीं श्रेणीके त्यागमें कहा गया, परंतु उपर्युक्त त्यागके होनेपर भी उनमें ममता और आसक्ति शेष रह जाती है, जैसे भजन, ध्यान और संत्सङ्गके

इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका त्याग होकर केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही विशुद्ध प्रेमका होना ज्ञानकी दूसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये ।

(७) संसार, शरीर और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग ।

संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण है; ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र भी न रहना, यह सातवीं श्रेणीका त्याग है ।*

इस सातवीं श्रेणीके त्यागरूप परवैराग्यको† प्राप्त हुए पुरुषोंके

अभ्याससे भरतमुनिका सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग होनेपर भी हरिणमें और हरिणके पालनरूप कर्ममें ममता और आसक्ति बनी रही । इसलिये संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिके त्यागको ''छठी श्रेणीका त्याग'' कहा है ।

* सम्पूर्ण संसारके पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका एवं ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर भी उनमें सूक्ष्म वासना और कर्तृत्वाभिमान शेष रह जाता है, इसलिये सूक्ष्म वासना और अहंभावके त्यागको ''सातवीं श्रेणीका त्याग'' कहा है ।

† पूर्वोक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग

अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसारसे अत्यन्त उपराम हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई सांसारिक फुरना हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते; क्योंकि उनकी एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्यभावसे गाढ़ स्थिति निरन्तर बनी रहती है।

इसलिये उनके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर अहिंसा १, सत्य २, अस्तेय ३, ब्रह्मचर्य ४, अपैशुनता ५, लज्जा, अमानित्व ६, निष्कपटता, शौच ७, संतोष ८, तितिक्षा ९, सत्सङ्ग, सेवा, यज्ञ, दान, तप १०, स्वाध्याय ११, शम १२, दम १३, विनय, आर्जव १४, दया १५, श्रद्धा १६, विवेक १७, वैराग्य १८,

---

होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है, परंतु इस सातवीं श्रेणीके त्यागी पुरुषका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि उसके निश्चयमें एक परमात्माके सिवाय अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं, इसलिये इस त्यागको परवैराग्य कहा है।

१. मन वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना। २. अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो, वैसे-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना। ३. चोरीका सर्वथा अभाव। ४. आठ प्रकारके मैथुनोंका अभाव। ५. किसीकी भी निन्दा न करना। ६. सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना। ७. बाहर और भीतरकी पवित्रता (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी एवं यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको तो बाहरकी शुद्धि कहते हैं और राग-द्वेष तथा कपटादि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ और शुद्ध हो जाना भीतरकी शुद्धि कहलाती है)। ८. तृष्णाका सर्वथा अभाव। ९. शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंका सहन करना। १०. स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहना। ११. वेद और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन। १२. मनका वशमें होना। १३. इन्द्रियोंका वशमें होना। १४. शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता। १५. दुखियोंमें करुणा। १६. वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षके सदृश विश्वास। १७. सत् और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान। १८. ब्रह्मलोकतकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव।

एकान्तवास, अपरिग्रह १, समाधान २, उपरामता, तेज ३, क्षमा ४, धैर्य ५, अद्रोह ६, अभय ७, निरहंकारता, शान्ति ८ और ईश्वरमें अनन्यभक्ति इत्यादि सद्गुणोंका आविर्भाव स्वभावसे ही हो जाता है। इस प्रकार शरीरसहित सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

उपर्युक्त गुणोंमेंसे कितने ही तो पहली और दूसरी भूमिकामें ही प्राप्त हो जाते हैं, परंतु सम्पूर्ण गुणोंका आविर्भाव तो प्रायः तीसरी भूमिकामें ही होता है; क्योंकि यह सब भगवत्प्राप्तिके अति समीप पहुँचे हुए पुरुषोंके लक्षण एवं भगवत्स्वरूपके साक्षात् ज्ञानमें हेतु हैं; इसीलिये श्रीकृष्णभगवान्‌ने प्रायः इन्हीं गुणोंको श्रीगीताजीके १३वें अध्यायमें—श्लोक ७से ११ तक—ज्ञानके नामसे तथा १६ वें अध्यायमें—श्लोक १ से ३ तक—दैवीसम्पदाके नामसे कहा है।

तथा उक्त गुणोंको शास्त्रकारोंने सामान्यधर्म माना है, इसलिये मनुष्यमात्रका ही इनमें अधिकार है; अतएव उपर्युक्त सद्गुणोंका अपने

---

१. ममत्वबुद्धिसे संग्रहका अभाव। २. अन्तःकरणमें संशय और विक्षेपका अभाव। ३. श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः पापाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। ४. अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना। ५. भारी विपत्ति आनेपर भी अपनी स्थितिसे चलायमान न होना। ६. अपने साथ द्वेष रखनेवालोंमें भी द्वेषका न होना। ७. सर्वथा भयका अभाव। ८. इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्तःकरणमें नित्य-निरन्तर प्रसन्नताका रहना।

अन्तःकरणमें आविर्भाव करनेके लिये सभीको भगवान्‌के शरण होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये ।

उपसंहार

इस लेखमें सात श्रेणियोंके त्यागद्वारा भगवत्प्राप्तिका होना कहा गया है । उनमें पहली ५ श्रेणियोंके त्यागतक तो ज्ञानकी प्रथम भूमिकाके लक्षण और छठी श्रेणीके त्यागतक दूसरी भूमिकाके लक्षण तथा सातवीं श्रेणीके त्यागतक तीसरी भूमिकाके लक्षण बताये गये हैं । उक्त तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है । फिर उसका इस क्षणभङ्गुर, नाशवान्, अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषका स्वप्नके संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही अज्ञाननिद्रासे जगे हुए पुरुषका भी मायाके कार्यरूप अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता । यद्यपि लोकदृष्टिमें उस ज्ञानी पुरुषके शरीरद्वारा प्रारब्धसे सम्पूर्ण कर्म होते हुए दिखायी देते हैं एवं उन कर्मोंद्वारा संसारमें बहुत ही लाभ पहुँचता है; क्योंकि कामना, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमानसे रहित होनेके कारण उस महात्माके मन, वाणी और शरीरद्वारा किये हुए आचरण लोकमें प्रमाणस्वरूप समझे जाते हैं और ऐसे पुरुषोंके भावसे ही शास्त्र बनते हैं; परंतु यह सब होते हुए भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवको प्राप्त हुआ पुरुष तो इस त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है । इसलिये वह न तो गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और निद्रा आदिके प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा ही करता है; क्योंकि सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान और निन्दा-स्तुति आदिमें एवं मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण आदिमें सर्वत्र उसका समभाव हो जाता है, इसलिये उस महात्माको न तो

किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियकी निवृत्तिमें हर्ष होता है, न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि उस धीर पुरुषका शरीर किसी कारणसे शस्त्रोंद्वारा काटा भी जाय या उसको कोई अन्य प्रकारका भारी दुःख आकर प्राप्त हो जाय तो भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवमें अनन्यभावसे स्थित हुआ पुरुष उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता; क्योंकि उसके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण संसार मृगतृष्णाके जलकी भाँति प्रतीत होता है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीका भी होनापना नहीं भासता। विशेष क्या कहा जाय, वास्तवमें उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका भाव वह स्वयं ही जानता है। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करनेके लिये किसीका भी सामर्थ्य नहीं है। अतएव जितना शीघ्र हो सके अज्ञाननिद्रासे चेतकर उक्त सात श्रेणियोंमें कहे हुए त्याग-द्वारा परमात्माको प्राप्त करनेके लिये सत्पुरुषोंकी शरण ग्रहण करके उनके कथनानुसार साधन करनेमें तत्पर होना चाहिये; क्योंकि यह अतिदुर्लभ मनुष्यका शरीर बहुत जन्मोंके अन्तमें परम दयालु भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। इसलिये नाशवान्, क्षणभङ्गुर संसारके अनित्य भोगोंको भोगनेमें अपने जीवनका अमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहिये।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

—०—

गीताकी श्लोक-सूची

अध्याय	धृतराष्ट्र	संजय	अर्जुन	श्रीभगवान्	पूर्ण संख्या
१	१	२५	२१	०	४७
२	०	३	६	६३	७२
३	०	०	३	४०	४३
४	०	०	१	४१	४२
५	०	०	१	२८	२९
६	०	०	५	४२	४७
७	०	०	०	३०	३०
८	०	०	२	२६	२८
९	०	०	०	३४	३४
१०	०	०	७	३५	४२
११	०	८	३३	१४	५५
१२	०	०	१	१९	२०
१३	०	०	०	३४	३४
१४	०	०	१	२६	२७
१५	०	०	०	२०	२०
१६	०	०	०	२४	२४
१७	०	०	१	२७	२८
१८	०	५	२	७१	७८
जोड़	१	४१	८४	५७४	७००

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।
हरि-हिय-कमल-विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते॥
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि, कामासक्तिहरा॥
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि, विद्या ब्रह्म परा॥जय०
निश्चल-भक्ति-विधायिनि, निर्मल, मलहारी।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी॥जय०
राग-द्वेष-विदारिणि, कारिणि मोद सदा।
भव-भय-हारिणि, तारिणि, परमानन्दप्रदा॥जय०
आसुरभाव-विनाशिनि, नाशिनि तम रजनी।
दैवी सद्गुणदायिनि, हरि-रसिका सजनी॥जय०
समता-त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी॥जय०
दया-सुधा बरसावनि मातु! कृपा कीजै।
हरि-पद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै॥जय०

****

मिलनेका पता

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)